वर्धमानचम्पू

रचनाकार

पं. मूलचन्द शास्त्री, न्यायतीर्थ

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

प्रस्तावना

पं. मूलचन्द्र शास्त्री की प्रखर प्रतिभा उन्हें संस्कृत साहित्य में असाधारण स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। वर्तमान युग में एक ओर जहां संस्कृत साहित्य के विकास की परम्परा अवरुद्ध सी हो रही है, वहीं पं. मूलचन्द्र शास्त्री जैसे मनीषी संस्कृत साहित्य को अपनी अमर कृतियों के द्वारा नव-नवोन्मेष प्रदान करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी कृतियों में संस्कृत-काव्य-शैली का रम्य रूप प्रस्फुटित हुआ है। उनकी कविता के जिन गुणों ने संस्कृत-जगत् को मनोमुग्ध कर दिया है वह उनकी निरन्तर सारस्वत साधना है। अपने विषय को प्राचीन आख्यानों से ग्रहण कर वे उसे अपने सृष्टि-नैपुण्य से विलक्षण बना देते हैं। वे उसे अति रुचिकर और मनोमुग्धकारी स्वरूप प्रदान करने में अपूर्व दक्षता का परिचय देते हैं। मौलिकता, नई सृष्टि रचने में उतनी प्रशस्य नहीं होती, जितनी प्राचीन सृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने में होती है। उनकी लोक-प्रियता का प्रधान कारण है उनकी प्रभावपूर्ण लालित्य-युक्त परिष्कृत शैली।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य जिस प्रकार का होगा समाज उसमें उसी प्रकार का प्रतिबिम्बित होता रहेगा। समाज के रूप-रंग, उत्थान-पतन, सम्पन्नता विपन्नता के निश्चित ज्ञान का साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रमुख वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के अन्तस्तल से अपनी मधुर झांकी प्रदर्शित करती रहती है। संस्कृति में जब आध्यात्मिकता की भव्य भावनाएँ उच्छ्वसित होती हुई दृष्टिगत होती हैं तो उस देश अथवा जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचारों की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के फलस्वरूप यदि समाज का मुकुट है तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रवाहक तथा प्रसारक होने के कारण संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने का माध्यम होने से संस्कृति का वाहन होता है।

भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों के सुलभ होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के निकट संघर्ष से अपने को पृथक् रखकर, आनन्द की अनुभूति को, यथार्थतः [illegible] आनन्द की उपलब्धि को अपना लक्ष्य बनाता है। इसीलिए संस्कृत-काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के अन्दर आनन्द के अन्वेषण में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वरीय शक्ति का विशुद्ध पूर्ण रूप है अतएव संस्कृत काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन कर श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष करना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है अनन्तवीर्यशाली परमात्मा की सत्ता में अटूट विश्वास। भक्त भगवान् के चरणारविन्द में स्वयं को समर्पित कर देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेश-भावना जीव को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह अपने आराध्य का भक्त नहीं बन जाता, तब तक रागादिक शत्रु के समान सन्तापकारक हैं, यह संसार कारागृह है, यह सांसारिक मोहबन्धन पाश के समान है। यही कारण है कि शास्त्रीजी, जिन्होंने प्रस्तुत काव्य की रचना की है, वह रचना उनकी आध्यात्मिक भावभूमि से उद्भूत होकर शाश्वत काव्य-सृष्टि की परम्परा में अनुपम मुक्तापटली के समान प्रतिष्ठित हुई है।

संस्कृत साहित्य में पद्य एवं गद्य काव्यों के अतिरिक्त चम्पू नाम से अभिहित काव्य-परम्परा का विपुल साहित्य उपलब्ध है। यह साहित्य अपने अपरिमित साहित्यिक सौन्दर्य, मधुर-विन्यास एवं रस-पेशलता की दृष्टि से अद्वितीय है। चम्पू-काव्य का सर्वप्रथम काव्य-लक्षण, "गद्यपद्यमयी रचना" कहकर, दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श में किया है। गद्य काव्य अर्थगौरव तथा वर्णन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तो पद्य काव्य अपनी छन्दोबद्धता के कारण होनेवाली गेयता और लय-सम्पत्ति से समृद्ध माना जाता है। इन दोनों का मिश्रण वस्तुतः एक नूतन चमत्कार का, अद्भुत कमनीयता का सर्जन करता है अतएव चम्पूकाव्य की रचना ने विद्वन्मण्डल को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट किया है। यह काव्य स्वसंवेद्य रस-पेशलता तथा वर्णनाजन्य माधुरी का उत्पादक होता है। जीवन्धर चम्पू के रचयिता हरिचन्द्र चम्पू को बाल्य और तारुण्य की सन्धि-स्थल में विद्यमान किशोरी कन्या के समान अधिक रसोत्पादक मानते हैं—

गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम् ।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राक् बाल्यताऽरुण्यवतीव कन्या ।
जीवन्धर चम्पू १.९

रामायण–चम्पू के प्रणेता भोजराज गद्य-समन्वित पद्य-सूक्ति को वाद्य से युक्त गायन के समान मानते हैं—

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्ति—
र्हृद्या हि वाद्य-कलया कलितेव गीतिः । चम्पूरामायण, १.३

गद्य एवं पद्य के वर्णनीय विषयों का सामान्यतः विभाजन नहीं किया जा सकता परन्तु सूक्ष्मेक्षिका से दृष्टिपात करने पर अन्तर स्पष्ट हो जाता है । मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति के प्रबोधक भाव छन्द के माध्यम से अत्यन्त सुचारुरूप से प्रकट किये जा सकते हैं तो बाह्य वस्तुओं के चित्रण में गद्य का माध्यम अपनी विशिष्ट क्षमता प्रदर्शित करता है । फलतः गद्य-पद्य के मिश्रित रूप का एकत्र विन्यास अवश्य ही रोचक एवं हृदयावर्जक रूप धारण कर लेता है । गद्य एवं पद्य के वर्ण्य विषय पर कवियों का विशेष आग्रह नहीं रहा । उन्होंने अपनी इच्छानुसार जैसा चाहा वैसा वर्णन गद्य या पद्य किसी माध्यम से किया परन्तु इस मिश्रित शैली के नैसर्गिक चमत्कार की ओर उनका आकर्षण अवश्य रहा । चम्पू के रचयिताओं की दृष्टि में चम्पू एक विलक्षण आनन्द की सृष्टि करता है, जो न गद्य काव्य के द्वारा जन्य है और न पद्य काव्य के द्वारा उद्भाव्य है ।

पं. मूलचन्द्र शास्त्री की यह रचना चम्पू-काव्य के अन्तर्गत परि-गणित होती है । गद्य-पद्य मिश्रित प्रकृत काव्य-रचना, कठोर तर्क-कर्कश दार्शनिक सिद्धान्तों का साहित्यिक भाषा के माध्यम से अपनी उत्कृष्ट कमनीयता के साथ प्रस्तुत करती है, यह निर्विवाद सत्य है । काव्य की भाषा अत्यन्त प्रांजल एवं शैली प्रौढ़ तथा आकर्षक है । वर्णन की प्रचुरता में यह किसी अन्य काव्य से न्यून नहीं है । कवि के पाण्डित्य का पद-पद पर दर्शन होता है । उस युग की धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का उन्होंने बड़ा ही रोचक विवरण प्रस्तुत किया है तथा उनके द्वारा विहित समाज एवं संस्कृति का उज्ज्वल चित्रण रसिकजनों की प्रशंसा का विषय है । वर्णन में कवि का नैपुण्य कथानक को रोचक बनाने में सर्वथा सक्षम है ।

कविवर मूलचन्द्र शास्त्री का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ । उनकी जन्मभूमि मालथौन नामक कस्बा है जो सागर जिले के अन्तर्गत

एक सुरम्य स्थल है। परवार कुलोत्पन्न श्री सटोलेलाल इनके जनक एवं श्रीमती सल्लोदेवी इनकी माता थीं। प्रस्तुत काव्य के अन्त में उन्होंने स्वयं उद्धृत किया है—

सल्लो माता पिता मे श्री सटोलेलाल नामकः ।
जिनधर्मानुरागी स परवारकुलोद्भवः ॥

वे अपने माता-पिता के एक मात्र पुत्र थे पर दैव-दुर्विपाक से अल्प-आयु में ही उनके पिता दिवंगत हो गये। उस समय शास्त्रीजी की अवस्था केवल अढाई वर्ष की थी। वैधव्य के असीम कष्ट से दुःखी होते हुए भी माता ने लाड़-प्यार से उनका पालन पोषण किया। निर्धनता समस्त कष्टों की जननी होती है। अपनी विपन्नता की पीड़ा का उन्होंने सजीव चित्रण किया है। वे लिखते हैं कि उनका जीवन अभावमय रहा—

अभावे लब्धजन्माऽहमभावे चाथ वर्धितः ।
अभावे लब्धविद्योऽहं स्वकर्तव्ये रतोऽभवम् ॥

शास्त्रीजी ने अभाव से सतत संघर्ष किया और अपने मार्ग को स्वयं प्रशस्त किया। उन्होंने अपनी व्यथा को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

दृष्टा मयानेकविधा धनाढ्याः, गणोऽपि तेषामधिकारिणाञ्च ।
परं न विद्वज्जनगण्यगुण्य, गुणानुरागी हृदयाऽत्र दृष्टः ॥

इसी तथ्य को साधारणीकृत करते हुए ऊपर से सहानुभूति प्रदर्शित करनेवाले किन्तु मन से कठोर धनिकों को बदरीफल के समान बताकर उन्होंने अपनी पीड़ा की पराकाष्ठा को मुखरित किया है –

येऽपि केऽपि मया दृष्टा आढ्या बदरिकानिभाः ।
नारिकेलसमानेव सौभाग्यात्क्वापि वीक्षिताः ॥

परन्तु शास्त्रीजी की लगन और माता की ममतामयी प्रेरणा ने उन्हें, समग्र झंझावतों को हटाकर, आगे बढ़ने को प्रेरित किया। माता के स्नेहिल उपकार को कविवर जिन शब्दों में व्यक्त करते हैं वह उनकी अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति को अविकल रूप में प्रकट करता है। माता ने उनका जो उपकार किया है उसके अंश को भी वे चुका नहीं सकते। जीवन भर उस ऋण से मुक्त होना सर्वथा असम्भव है—

मातस्त्वया मम कृतोऽस्ति महोपकारो,
यावान्स्तदंशमपि पूरयितुं न शक्तः ।

एतन्नवीन कृति वृद्धियुतं विधाय,
प्रत्यर्पयामि महिते ! तदुरीकुरुष्व ।।

"त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये" के अनुसार इस कृति को कवि ने श्रद्धावनत होकर अपनी ममतामयी माता के चरणों में रख दिया है। इसके आगे भी कवि यह कामना करता है कि अग्रिम जन्म-जन्मान्तरों में भी तुम्हीं मेरी माता हो और मैं ही तुम्हारा पुत्र होऊं। पुत्र की यह भावना अपनी माता के प्रति अपार श्रद्धा और अलौकिक प्रेम की परिचायिका है।

शास्त्रीजी अपनी पत्नी को प्रेरणाप्रदायिनी मानते हैं। वे कहते हैं कि साहित्य-सृष्टि की प्रक्रिया में पत्नी का योग एवं सहयोग नितान्त अपेक्षित है—

साहित्यनिर्माणविधौ च पुंसो योगेन पत्न्या भवितव्यमेव ।
विशोभते चन्द्रिकयैव युक्तो विधोः प्रकाशोऽप्यनुभूत एषः ।।

ऐसी पत्नी भाग्य से ही प्राप्त होती है। उनके परिवार में चार पुत्रियां हैं जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी इस कृति में किया है। अपनी सहधर्मिणी मनवादेवी का नामोल्लेख भी स्तबकों के अन्त में मनवावरेण शब्द में किया है।

काव्य में कवि की अपने गुरु के प्रति अगाध भक्ति प्रकट होती है। अपने गुरु श्री अम्बादास शास्त्री के विषय में उनके उद्‌गार स्पृहणीय हैं। कवि कहता है कि गुरुवर की ज्ञानमयी महोदयवती एवं सद्‌भावों से ओत-प्रोत मूर्ति को देखकर सरस्वती ने उन्हें अपना पुत्र माना और इसी कारण उनमें षड्‌दर्शनों का रहस्य एवं ज्ञान समाहित कर दिया—

यस्य ज्ञानमयीं महोदयमयीं षड्‌दर्शनोद्बोधिकाम्,
सद्‌भावैः समलङ्कृतां सुखपथप्रस्थापिकां निर्मलाम् ।
मूर्ति वीक्ष्य सरस्वती भगवती यं दारकत्वेन वै,
स्वीचक्रे भवतात्स मेऽसमगुणो विद्यागुरुः श्रेयसे ।

ग्रन्थ के अन्त में भावविभोर होकर कवि अपने विद्यागुरु के चरणों में नत-मस्तक हो जाता है——

विद्यागुरो ते गुणराजिरम्यां कीर्तेः कथां वक्तुमशक्तचित्तः ।
सहस्रजिह्वोऽपि च मे कथा का, स्वल्पावबोधोऽस्म्यहमेकजिह्वः ।।

गुरु की महिमा का वर्णन सहस्रजिह्व भी नहीं कर सकता, फिर कवि का तो सामर्थ्य ही कितना ?

कविवरेण्य शास्त्रीजी ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। चौदह सर्गों में उपनिबद्ध "लोकाशाह" नामक संस्कृत महाकाव्य उनकी प्रथम रचना है। पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध रूप—दो भागों में विभक्त 'वचनदूतम्' नामक काव्य ध्यानमग्न नेमिनाथ के समीप उपस्थित हुई राजुल की मनोवेदना का सुरुचिपूर्ण अंकन है। उत्तरार्ध में राजकुल के हताश होकर गिरि से लौट आने का समाचार सुनकर उसके माता-पिता और सखियों के द्वारा प्रकट की गयी अन्तर्द्वन्द्व से ओतप्रोत उनकी मानसिक व्यथा का अनुपम चित्रण हुआ है। इस काव्य की एक विशिष्टता यह रही है कि पूर्वार्ध में मेघदूत के प्रायः समस्त श्लोकों के अन्तिम पादों की एवं उत्तरार्ध में उत्तर-मेघ में आये कतिपय श्लोकों के अन्त्य पादों की पूर्ति की गयी है।

आपकी अन्य रचनाओं में आचार्य समन्तभद्र कृत "आप्त-मीमांसा" नामक ग्रन्थ की विस्तृत टीका है, जो १०५ क्षुल्लक श्री शीतलसागरजी द्वारा सम्पादित होकर शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित है।

आपके द्वारा कतिपय अनूदित ग्रन्थों में "युक्त्यनुशासन" का हिन्दी अनुवाद भी है, जो दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। दिगम्बर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा रचित "चतुर्विंशतिसन्धान काव्य" के तेरह अर्थों का अनुवाद भी आपने किया है। आपका एक अन्य ग्रन्थ "जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन" भी है। ये दोनों ही प्राप्य नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ "वर्धमान चम्पू (सानुवाद)" आपकी अन्तिम रचना है जिसका प्रणयन 78 वर्ष की आयु में सम्पन्न हुआ।

वर्धमान चम्पू आठ स्तबकों में विभक्त है जिसमें तीर्थंकर महावीर के जन्म से लेकर कैवल्य प्राप्ति तथा अन्तिम स्तबक में समवसरण का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है।

तीर्थङ्कर की जन्मभूमि का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि भरत क्षेत्र में भूमण्डल का अलंकारस्वरूप एक आर्य खण्ड है जहाँ की भूमि समय-समय पर तीर्थंकरों के जन्म से पवित्र होती रही है—

तत्रास्ति भूमण्डलमण्डनं वै,
खण्डं तदार्याभिधमुत्तमाङ्गम्।

अगेष्विवानन्दित सर्वलोकं,
तीर्थंकरोत्पत्तिपवित्रभूमिः ।। १·३३

मुनिजनों के विहार-स्थलों से परिपूत वैशाली नगरी में नागरिकों की सदाशयता, गुणग्राहिता एवं व्यवहार की मधुरता देखते ही बनती है—

न तद्गृहं यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये च न सन्त्युदाराः ।
उदारता सापि विशालताढ्याः,
विशालता सापि दयानुबन्धा ।। १.३६

आगे कवि गृहस्थों की समृद्धता एवं सम्पन्नता, किलकारी भरते शिशुओं से भरे उत्सङ्गोंवाली रमणियों की भव्यता का रम्य चित्रण करता है । वे नेत्रों के लिए आकर्षक एवं आनन्ददायक हैं—

गृहे गृहे तत्र वसन्त्युदाराः,
दाराश्च ते सन्ति च दारकाङ्काः ।
ते दारकाश्चापि च कण्ठहाराः,
हाराश्च ते सन्ति च नेत्रहाराः । १.३८

गर्भस्थित तीर्थङ्कर महावीर के प्रभाव से माता त्रिशला के लावण्यमय रूप में जो पावनता थी, जो महनीयता थी—उसका कवि ने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है । शरदकालीन मेघ के समान उसकी प्रभापरिधि के आगे राजहंसी भी तिरस्कृत हो जाती है अपने राज-मन्दिर में वह पूर्ण चन्द्र-मण्डल-वाली पूर्णिमा के समान देदीप्यमान हो रही है—

सा शारदीयाम्बरतुल्यकान्तिः,
वपुः प्रभान्यक्कृत राजहंसी ।
चकास राकेव च पूर्णचंद्रा,
स्वमन्दिरेऽलक्तकशोभिपादा ।। २.३३

तीर्थंकर महावीर के जन्म ग्रहण करने पर उनके जन्म के प्रताप से समस्त जगत् सुख का अनुभव करने लगा । दिशाएँ व आकाश निर्मल थे । शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायु बह रही थी । वायु वेग से नृत्य करती हुई सी लताएँ पुष्प-वर्षा कर रही थीं । संसार में जन-मानस से समस्त विरोध शान्त हो गया था ।

धेनुस्तनेभ्यः पयसां प्रवाहो,
विनिर्गतस्तज्जनि हर्षभावात् ।
शशाम तस्मिन् समये विरोधो,
विरोधिनां गोप्तरि जायमाने ।। ३.११

संसार की असारता एवं सम्बन्धों की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए कविवर शास्त्रीजी ने तीर्थंकर वर्धमान के मुख से समस्त सम्बन्धों की असारता का दिग्दर्शन कराया है। वे कहते हैं कि संसार में न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता। यथार्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो यह आत्मा स्वयं अकेला है—

न कोऽपि कस्यास्ति सुतो न माता,
भ्राता पिता मोहनृपस्य लीला ।
सम्बन्धबन्धा निखिला इमेऽत्र,
मूलार्थदृष्ट्या स्वयमेक एव ।। ५.३२

सप्तम स्तवक में वर्धमान महावीर द्वारा कैवल्य प्राप्ति का सुन्दर वर्णन किया गया है। जैसे-जैसे तपस्या प्रकर्षवती होती है वैसे-वैसे संचित कर्म विशीर्ण होते जाते हैं और कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है—

यथा समिद्धमिन्धनं प्रदह्यतेऽग्निना स्वयम्,
तथैव कर्म संचितं प्रदह्यते तपस्यया ।
मुमुक्षुभिः प्रकर्षतः शुभाशयेन सर्वदा,
यथा यथा प्रसेव्यते प्रदह्यतेऽर्जितो विधिः ।। ७.१

जिस प्रकार मलविहीन पदार्थ में विशुद्धता अथवा निर्मलता आ जाती है उसी प्रकार कर्मविहीन आत्मा में भी विशुद्धता, निर्मलता एवं विशदता आ जाती है।

कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर भगवान् वर्धमान महावीर के प्रभाव एवं प्रताप का चित्र प्रस्तुत करते हुए कविवर शास्त्रीजी ने उनकी स्तुति करते हुए अपनी भावांजलि को समर्पित किया है। कवि की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर के प्रभाव से अपने जन्मजात वैरभाव का परित्याग कर एक ही प्रकोष्ठ में सिंह और गाय, बिल्ली और चूहा, कुत्ता और हरिण शान्तिपूर्वक बैठे हुए हैं, उनमें परस्पर अपरिमित प्रीति है—

स्वामिंस्तेऽस्ति प्रबलमहिमा ह्यन्यथा सिंहगावौ,
मार्जारारवू शुनकहरिणावेक कोष्ठे कथं वा ।

सन्निष्ठेले प्रकृतिजनितं वैरभावं विहाय,

प्रत्यासत्ति यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ।। ८.२९

यदि उनके मन का शाश्वतिक विरोध शान्त न हो गया होता और उनमें परस्पर प्रेमभाव जाग्रत न हो गया होता तो वे सब आपस में प्रीतिपूर्वक कैसे बैठते ?

कवि ने आगे श्री महावीर के धर्मोपदेश, धर्मप्रचार एवं तज्जन्य जनमानस के मोहान्धकार के नाश का सुरुचिपूर्ण चित्रण किया है।

भारतीय धर्म में, विशेषतः जैनधर्म में, अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। कवि की मान्यता है—

प्राणाः प्रियाः स्वस्य यथा भवन्ति,

भवन्ति तेऽन्यस्य तथैव जन्तोः ।

इत्थं परिज्ञाय न हिंसनीयाः,

प्राणाः परेषां हितकांक्षिणा नो ।। ८.४५

जैनधर्मावलम्बी संस्कृत कविजनों ने अपनी काव्य-रचना द्वारा संस्कृत साहित्य के बहुमुखी विकास में अपूर्व योगदान दिया है। वैसे तो जैन ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है तथापि जैनधर्म को तर्क की ठोस भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए तथा अध्यात्म-वेत्ता मनीषियों के लिए भी ग्राह्य तथा स्पृहणीय बनाने के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग अनिवार्य माना गया। काव्य के माध्यम से हृदय को उल्लसित करने की तथा तर्क के माध्यम से मस्तिष्क को परिपुष्ट बनाने की आवश्यकता का अनुभव कर जैन साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा का आश्रय ग्रहण किया।

वर्धमानचम्पू प्रांजल एवं सुपरिष्कृत काव्यशैली में विरचित *वर्तमान युग* का एक सुन्दर चम्पू-काव्य है। संस्कृत को मृत भाषा के नाम से बोधित करनेवाले विद्वन्मन्य व्यक्तियों के लिए यह एक चुनौती है। संस्कृत भाषा आज भी चिर-नूतन चिर-नवीन भाषा है, जिसमें अपूर्व काव्य-रचना, आज के युग में भी प्रभूत मात्रा में होती रही है। प्रस्तुत चम्पू-काव्य में *महावीर स्वामी के जीवन-चरित के विकास की अपूर्व छटा दृष्टिगोचर* होती है। काव्य प्रसाद गुण से आकण्ठ पूरित है। अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। मार्मिक स्थलों पर उपयुक्त रस की अभिव्यक्ति सहज रूप से प्रस्फुटित हुई है। वैशाली की समृद्धि का वर्णन करते हुए कवि ने वहां के राज-प्रासादों के वैभव, उनकी विशालता, वहां रहनेवाली नारियों के अनुपम अंग लावण्य—आदि का मनोरम चित्रण किया है।

भाषा प्रवाहमयी है। कवि का मुख्य लक्ष्य प्राचीन कथा का सरस, सहज एवं साहित्यिक भाषा में वर्णन करना है, जिसकी इस काव्य में पर्याप्त पूर्ति हुई है। तर्क-प्रवण एवं धर्म-ग्रन्थ होने पर भी प्रकृत काव्य में साहित्यिक सौन्दर्य की प्रचुरता है। कविवर की प्रकृत रचना उनकी चरमावस्था की चरम परिणति है। समाज में यह धारणा दृढ़मूल होती है कि वार्धक्य काल में कविगण मतिभ्रम से ग्रस्त हो जाते हैं किन्तु कवि की बुद्धि-विलक्षणता एवं विचक्षणता उसका सुखद अपवाद है। इस सन्दर्भ में कविवर के विचार द्रष्टव्य हैं—

मतिभ्रमो जायते एवं पुंसां वार्धक्यकाले जनवाद एषः।
मिथ्या यतोऽहं न तथा बभूव बभूव मे प्रत्युत शेमुषीद्धा ॥

—परिशिष्ट १

कवि की शेमुषी का तो परिबृंहण ही हुआ और उन्होंने इस अमूल्य ग्रन्थ-रत्न का प्रणयन किया।

कवि की विनयशीलता उन्हें और भी उच्च पद पर प्रतिष्ठापित करती है : कवि अपनी भावानुभूति को व्यक्त करते हुए स्पष्ट करता है कि यदि कहीं काव्य-रचना में स्खलन हो गया हो तो विद्वज्जन उसे क्षमा कर दें :

अस्य काव्यस्य निर्माणे उपयोगः सुरक्षितः।
तथापि यदि जाता स्यात्त्रुटिः क्षम्या गुणाग्रहैः ॥

—परिशिष्ट २

आगे कविवर हाथ जोड़कर अपनी त्रुटियों के प्रति ध्यान न देने एवं उन्हें कवि की बुद्धि का दोष मान कर क्षमा करने की याचना करता है

विद्वद्वरेण्यै गुणिरागबद्धिभिः,
वार्धक्यकालोद्भवकाव्यमेतत्।
विचिन्त्य शाब्दोऽहं यदि त्रुटिः,
स्यात् क्षम्येति संयोज्य करौब्रवीमि ॥

—परिशिष्ट

काव्य के अन्त में कविवर शास्त्री जी ने अपने काव्य के पठन-पाठन की शाश्वतिक मनीषा की कामना की है और कहा है कि जब तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार रहेगा, जब तक मन्दाकिनी का जल प्रवाहित होता

रहेगा, जब तक सूर्य और चन्द्रमा क्षितितल को प्रकाशित करते रहेंगे तब तक विद्वत्सभा में प्रकृत वर्धमान-चम्पू-काव्य को सहृदय रसिकगण निरन्तर पढ़ते-पढ़ाते रहेंगे—

यावद्राजति शासनं जिनपतेर्यावच्च गंगाजलम्,
यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे।
तावद्राजतु काव्यमत्र भुवि मे विद्वत्सभायां जनैः
हृद्यं सद्धृदयैरहर्निशमिदं पापठ्यमानं मुदा॥

कविवरेण्य शास्त्रीजी आज नहीं हैं परन्तु उनकी आत्मा काव्य के कण-कण में व्याप्त है। काव्य की रामणीयकता निःसन्दिग्ध है।

आशा है सुज्ञ विद्वज्जन प्रस्तुत काव्य का रसास्वादन करेंगे।

गंगाधर भट्ट

जयपुर
२७ जुलाई, १९८७

निदेशक
रायबहादुर चम्पालाल प्राच्यशोध संस्थान,
जयपुर

प्रकाशकीय

प्रस्तुत काव्य "वर्धमान-चम्पू" के रचयिता स्वर्गीय पं० मूलचन्दजी संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् थे। उन्होंने तीर्थंकर वर्धमान के लोकोत्तर चरित्र एवं उन द्वारा अनुभूत तथा उपदिष्ट मार्ग का साहित्य की एक विशेष विधा-चम्पूशैली में बड़े ही मनोरम, हृदयग्राही रीति में वर्णन किया है। भाषा अलंकारपूर्ण होते हुए भी रसमयी है, प्रांजल है। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ पाठक भी इसके आनन्द में डूब सकें एतदर्थ विद्वान् कृतिकार ने उसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर रचना को अधिक लोकोपयोगी बना दिया है।

वर्धमान महावीर को देखने/समझने के लिए विशिष्ट आंख चाहिये। महावीर तो संप्रदायातीत थे। उन्होंने जो अनुभव किया वे उसी में जीए। अनुभव को शब्दों की चहार-दीवारी में कैद करना कठिन है। शब्द इन्द्रिय जनित हैं और महावीर का अनुभव अतीन्द्रिय।

महावीर दीये की अविनश्वर लौ हैं/ज्योति हैं। ज्योति को पकड़ा नहीं जा सकता, उससे मार्ग की ठोकर से बचा जा सकता है। हमें दीये को पकड़ने की आदत है। हमारा कल्याण दीये को न पकड़ने में निहित है। हमारा सारा ध्यान दीये की बनावट में लग रहा है, यह किस धातु से निर्मित है, यह स्वर्ण का है, रजत का है अथवा मिट्टी का। इसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है। इसके आकार-प्रकार को क्या संज्ञा दी जावे। पर इस दीये की ज्योति में हमें क्या दीखता है इस पर हम केन्द्रित नहीं हो पाते।

आवश्यकता इस बात की है कि उस दीये के प्रकाश में हम सही मार्ग ढूंढें। उस मार्ग को पकड़ पावें तो इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही जन्मों को संवार सकें/सुधार सकें।

यदि हम साहस/संकल्प जुटा पायें और अग्रसर हों उस मार्ग पर तो हमें छुटकारा मिल सकता है।

और यह प्रकाश किसी की बपौती नहीं है। वह हर आंखवाले को सन्मार्ग की ओर इंगित करती है। इसमें किसी जाति/वर्ग की बंदिश नहीं है। वहाँ न कोई अपना है न पराया, सबके कल्याण के लिये सुलभ है। शर्त है आंख खोलकर चलने की। स्वामी समंतभद्र ने भी आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व वर्धमान की वन्दना करते हुए 'सर्वोदयतीर्थमिदं तवैव' का उद्घोष किया है। अपभ्रंश के महाकवि वीर ने भी 'किउ जेण तित्थु जगे

वड्ढमाणु', अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक समृद्धि के प्रदायक तीर्थ का प्रवर्तक कहकर वर्धमान की स्तुति की है।

वर्धमान महावीर के लिए Global History of Philosophy के सुप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक John C. Plott की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय हैं - "Mahavira stands like a spiritual giant by comparison with most of the old Testament Prophets and his example as well his way of Victory over everything that finds us to the finite may yet be fruitful in all the world. When it came to the problems of conduct and knowledge, he did not stop with a Socratic 'Ignorance'. He found an answer to Socratic questioning and left a light that will never be extinguished." अर्थात् अधिकांश ज्ञात प्राचीन आध्यात्मिक सन्तों में महावीर का स्थान आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में शीर्ष पर है और उनका उदाहरण एवं हर प्रकार के भौतिक बन्धन पर विजय प्राप्त करने हेतु उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग आज भी संसार में फलप्रद हो सकते हैं। चारित्र एवं ज्ञान की समस्याओं पर जब उन्होंने चिन्तन प्रारम्भ किया तो वे सुकरात के 'अज्ञेयवाद' पर रुके नहीं। उन्होंने सुकरात के प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर लिया और वे एक ऐसी ज्योति छोड़ गये जो कभी बुझेगी नहीं।

उन्हीं वर्धमान के चरित्र के प्रस्तुतीकरण से रचनाकार धन्य हो उठा है।

सुविज्ञ पाठकगण इस रचना के पठन से साहित्यिक, ललित काव्य का रसास्वादन करें और वर्धमान का यह सार्वकालिक, सर्वमांगलिक ज्योति हमें सन्मार्ग दिखा सके, हम उस पथ के राही बनकर सांसारिक त्रासदी से त्राण पा सकें इसी पवित्र भावना के साथ पंडितजी की इस कृति को प्रकाशित कर रहा है जैनविद्या संस्थान।

इसके प्रकाशन में संलग्न हमारे सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं। डॉ. गंगाधर भट्ट, निदेशक, रायबहादुर चम्पालाल प्राच्य शोध संस्थान, जयपुर के प्रति विशेष रूप से आभार प्रगट करते हैं जिन्होंने प्रस्तावना लिखकर हमें अनुगृहीत किया है। पुस्तक के मुद्रण के लिए अजन्ता प्रिण्टर्स, जयपुर भी धन्यवादार्ह है।

जयपुर
श्रेयांसनाथ निर्वाण दिवस
श्रावण पूर्णिमा, वी. नि २५१३
९-८-८७

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति
श्रीमहावीरजी

आभार

प्रस्तुत वर्धमान-चम्पू काव्य में पं० मूलचन्द्र शास्त्री की परिपक्व प्रज्ञा एवं प्रौढ प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने अपने काव्य के नायक भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को इतनी सजीवता के साथ चित्रित किया है कि उनकी मंजुल मूर्ति प्रत्यक्ष के समान नेत्रपटल पर अंकित हो जाती है।

यह चम्पू-काव्य संस्कृत के नव जागरण से आप्लावित है। इस काव्य में मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति के प्रबोधक भाव पद्य के माध्यम से और बाह्य जगत् के चित्रण गद्य के द्वारा प्रकट किये गये हैं। यह मिश्रण एक नूतन चमत्कार का, अद्भुत कमनीयता का एवं अतिशय रामणीयकता का सृजन करता है।

पं० मूलचन्द्रजी की यह हार्दिक इच्छा थी कि इस काव्य का प्रकाशन उनके जीवन काल में ही हो जाय, पर उनके निरन्तर गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उनकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। उनकी मृत्यु के बाद भी इस काव्य के प्रकाशन से जैनविद्या संस्थान को बड़ा सन्तोष है। यह उनका जीवन्त स्मृतिग्रन्थ है।

इस काव्य के प्रकाशन में पं० भंवरलाल पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य और सुश्री प्रीति जैन का प्रमुख योग है। संस्कृत पाठ को यथावत् प्रेस तक पहुंचाना, हिन्दी अनुवाद को परिमार्जित करना और प्रूफ को पूरी सावधानी से तीन तीन बार पढ़ना साधारण कार्य नहीं है। इसे इन दोनों ने किया है। पुस्तक को यथेष्ट रूप में मुद्रित करना अजन्ता प्रेस के अधिकारियों और मुद्रकों का काम रहा है। ये सभी धन्यवादार्ह हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन से सम्बन्धित समस्त कार्य के पीछे डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी और श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका की जागरूक प्रेरणा है।

सब ने अपना अपना काम निष्ठा और सजगता से किया है। संस्थान इनके प्रति आभारी है। हमें आशा है कि आधुनिक संस्कृत साहित्य की यह नवीनतम कृति विद्वानों, चिन्तकों और मनीषियों द्वारा उचित समादर को प्राप्त करेगी।

(प्रो०) प्रवीणचन्द्र जैन
निदेशक

रचनाकार का जीवन-परिचय

प्रस्तुत कृति के रचनाकार पं० मूलचन्दजी का जन्म अगहन वदी अष्टमी सं० १९६० के शुभ दिन मध्यप्रदेश के सागर मण्डलान्तर्गत मालथौन नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री सटोलेलाल एवं माता का नाम श्रीमती मल्लोदेवी था। आप परवार जाति के भूषण थे।

आप अपने पिता की एकमात्र सन्तान थे। दुर्भाग्य से ढाई वर्ष की अल्पायु में ही आपके पिता का स्वर्गवास हो गया। इनका पालन-पोषण इनके पिता के भाई, भावज एवं माता के द्वारा हुआ। बचपन में ये बड़े नटखट थे। जब ये सात वर्ष के थे तब एक दिन 'अण्डा डाबरी' (ग्रामलकी क्रीड़ा) नामक खेल खेलते हुए इनका बांया हाथ टूट गया जो जीवन-पर्यन्त ठीक नहीं हुआ।

इनके परिवार की एवं इनकी स्वयं की विपन्नावस्था पर दृष्टिपात कर पं० बलजलालजी जो किसी कार्य से मालथौन आये थे, इन्हें अपने साथ चौरासी मथुरा ले गये और वहां आश्रम में अध्ययनार्थ इनकी व्यवस्था कर दी। कई कारणों से वहां इनका अध्ययन भले प्रकार चल नहीं सका। चौरासी में ये तीन वर्ष रहे एवं वहां धर्म प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् इनको १५ वर्ष की आयु में आगे शिक्षा प्राप्त करने हेतु बाराणसी भेज दिया गया। वहां स्व० गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा संस्थापित स्याद्वाद महाविद्यालय में आपने छह वर्षों तक प्रसिद्ध विद्वान् श्री अम्बादासजी से न्याय, व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन विषयों का तलस्पर्शी अध्ययन किया तथा धर्म और साहित्य में शास्त्री तथा न्यायतीर्थ परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं।

वाराणसी में अपना अध्ययन समाप्त कर ये अहमदाबाद चले गये। वहां प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी ने इनकी योग्यता का आकलन कर इनको गांधी विद्यापीठाश्रित पुरातत्त्व विभाग में नियुक्त कर लिया। वहां उस समय सन्मतितर्क नामक ग्रंथ का प्रकाशन कार्य चल रहा था जिसके पाठान्तर संकलन का कर्त्तव्य इन्होंने सुचारु रूप से किया। यहां कार्य करते समय ही इनका सम्पर्क प्रसिद्ध पूंजीपति श्री पन्नालाल उमाभाई एवं कई विद्वान् श्वेताम्बर साधुओं से हुआ। ये १६ वर्ष तक श्वेताम्बर साधुओं एवं समाज के सम्पर्क में रहे। यहां रहते हुए इन्होंने कई श्वेताम्बर साधुओं को शिक्षा प्रदान की तथा कई महत्त्वपूर्ण श्वेताम्बर आगमों और ग्रंथों की टीका, अनुवाद आदि किये। कुछ स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की।

वहां से मुक्त होकर इन्होंने दिगम्बर जैन क्षेत्र पपौरा के वीर विद्यालय में पांच वर्ष तक अध्यापन कार्य किया जहां से दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी स्थित मुमुक्षु महिलाश्रम की तत्कालीन संचालिका स्व० ब्रह्मचारिणी कृष्णाबाई इनको श्रीमहावीरजी ले आईं। तत्पश्चात् १६ वर्ष तक इन्होंने ब्रह्मचारिणी कमलाबाई के आदर्श महिला विद्यालय में धर्माध्यापक के रूप में कार्य किया। इनकी योग्यता, विद्वत्ता, सादगी आदि गुणों का समादर करते हुए दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने आवास आदि की सुविधाएं प्रदान करते हुए क्षेत्र पर आपकी नियुक्ति की जहां आप जीवन के अन्त तक कार्यरत रहे। यहां रहते हुए आपने क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री स्व० श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका की प्रेरणा से 'युक्त्यनुशासन' का हिन्दी अनुवाद किया जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। आचार्य समन्तभद्र की 'आप्त-मीमांसा' नामक ग्रंथ की विस्तृत टीका भी आपने लिखी जो १०५ क्षुल्लक शीतलसागरजी द्वारा सम्पादित शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, शांतिवीर नगर श्रीमहावीरजी द्वारा वी.नि. सम्वत् २४९६ में मुद्रित कराया जा चुका है। आपकी एक अन्य स्वतंत्र रचना 'वचनदूतम्' है जो जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा उन द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित दो भागों में प्रकाशित किया गया है। जब तक आप जीवित रहे अनवरत साहित्य सेवा में लीन रहे। 'वर्धमानचम्पू' सानुवाद जो पाठकों के हाथों में है इन्होंने ७८ वर्ष की आयु में लिखा था, यह इस बात का प्रमाण है।

अपनी धार्मिक, साहित्यिक तथा सामाजिक सेवाओं के कारण इन्दौर में एलाचार्य मुनिश्री १०८ श्री विद्यानन्दजी तथा देहली में मुनिश्री १०८ श्री आनन्दसागरजी के सान्निध्य में समाज द्वारा सम्मानित हुए। 'आप्तमीमांसा' की टीका पर इनको न्यायवाचस्पति की पदवी से अलंकृत किया गया। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने भी आपकी सेवाओं के लिए आपको यथोचित सम्मान एवं पुरस्कार प्रदान किया। राजस्थान के राज्यपाल महोदय ने भी संस्कृत दिवस पर आयोजित एक समारोह में संस्कृत सेवाओं के लिए आपको प्रशस्तिपत्र एवं पुरस्कार प्रदान किये।

दिनांक ५.८.८६ को ८३ वर्ष की आयु में हृदय की गति रुक जाने से आपका स्वर्गवास हो गया।

आप अपने पीछे अपनी पत्नी, चार पुत्र तथा चार पुत्रियां छोड़ गये हैं।

अनुक्रमणिका

स्तबक सं.		पृष्ठ सं.
१.	**प्रथमः स्तबकः**	**१—५१**
	उत्थानिका	१
	वीरजन्मकाले भारतदशा	१३
	जम्बूद्वीपवर्णनम्	२४
	भरतक्षेत्रं आर्यखण्डश्च	२७
	वैशालीवैभवम्	२८
२.	**द्वितीयः स्तबकः**	**५२—७२**
	वीरगर्भावतरणं मातुः स्वप्नदर्शनं च	५२
	स्वप्नफलवर्णनम्	६४
	गर्भकल्याणकवर्णनम्	६६
३.	**तृतीयः स्तबकः**	**७३—९०**
	जन्मकल्याणकवर्णनम्	७३
	बाल्यावस्था	८२
४.	**चतुर्थः स्तबकः**	**९१—१०६**
	विवाहोपक्रमः	९१
५.	**पंचमः स्तबकः**	**१०७—१३१**
	संसाराद्विरक्तिः	१०७
६.	**षष्ठः स्तबकः**	**१३२—१५४**
	तपस्या	१३२
	चन्दनोद्धारः	१४१
	उपसर्गसहनम्	१४८

स्तबक सं.		पृष्ठ सं.
७.	**सप्तमः स्तबकः**	**१५५–१६८**
	कैवल्य-प्राप्तिः	१५५
८.	**अष्टमः स्तबकः**	**१६९–२११**
	समवसरणम्	१६९
	वीरवाणी-प्रभावः	१९८
	परिनिर्वाणम्	२०५
९.	**आनुषंगिक–कथनम्**	२१२–२२१
	तीर्थंकरो महावीरो बुद्धश्च	२१२
	केवलिनः श्रुतकेवलिनः दशपूर्वधारिणः	२१७
	एकादशांगधारिणः प्रभावकाचार्यश्च	
	विद्यागुरुस्तुतिः	२१९
	ग्रन्थनिर्माणहेतुः	२१९
	वार्द्धक्यमहिमा	२२०
	ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः	२२१

वर्धमानचम्पूः

प्रथमः स्तबकः

श्रियं क्रियाद्यस्य नतेन्द्रसेन्द्र-
मौलिप्रभारंजितपादपीठम् ।
बभौ सभायामुडुराजिराजि-
च्च्युतं नभःखण्डमिवाग्रजो वः ॥ १ ॥

भोगक्षितिर्व्यपगता च यदा समस्ता
कर्मक्षितिश्च समजायत वीक्ष्य तान्तान् ।
तत्र स्थितानसुभृतः खलु जीविकार्थं
कृष्यादिकर्म कृपया समुपादिशद्यः ॥ २ ॥

नमस्कार करते हुए इन्द्र और देवों के मुकुटों की कान्ति से रंजित हुआ जिनका सिंहासन नक्षत्रमाला से शोभायमान गिरे हुए आकाशखंड के जैसा समवसरण में शोभित हुआ, ऐसे वे आदिनाथ जिनेन्द्र आप सबका कल्याण करें ॥ १ ॥

जब भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड से भोगभूमि की रचना समाप्त हो चुकी एवं कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हुई, तब प्रभु आदिनाथ ने आजीविका के साधनों के अभाव से संत्रस्त हुए जीवों को असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा एवं वाणिज्य ऐसे आजीविका के साधनभूत छह कर्मों का उपदेश दिया ॥ २ ॥

चन्द्रप्रभं नौमि यदीयकान्ति
विलोक्य चन्द्रोऽपि विलज्जितोऽभूत् ।
नो लज्जितश्चेत् किमसावुदेति
रात्रौ दिवा नेति विचारयन्तु ।। ३ ।।

नमामि शान्तिं भवतापतप्तजनस्य तापापनुदे मुदे यः ।
आसारतुल्यामिव दिव्यवाणीं प्रवर्षयामास घनौघतुल्यः ।। ४ ।।

यस्याङ्घ्र्योर्नखकान्तिरुज्ज्वलतया सत्पुष्पदामायते
सेवार्थं समुपागतेन्द्रमणिभृन्मौलिश्च फुल्लायते ।
श्रद्धाभक्तिभरावनम्रभविनां माला मिलिन्दायते
सोऽयं त्रिजगत्प्रभुः प्रभुविभुवरो वीरोऽवतादंहसः ।। ५ ।।

मैं उन चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ जिनकी शारीरिक कमनीय कान्ति को देखकर चन्द्रमा लज्जित हो गया। यदि ऐसा न होता तो सोचिये—वह रात्रि में ही क्यों निकलता है, दिन में क्यों नहीं निकलता ? ।। ३ ।।

संसाररूपी आतप से अत्यन्त संतप्त हुए जीवों के उस संताप को दूर करने के लिए जिन प्रभु ने मेघ के रूप होकर दिव्यध्वनिरूप घनघोर जल की वर्षा की ऐसे उन शान्तिनाथ स्वामी को मैं नमस्कार करता हूं ।। ४ ।।

जिनके दोनों चरणों की उज्ज्वलतम कान्ति सर्वोत्तम पुष्पों से ग्रथित हुई एक माला के जैसी प्रतीत होती है, सेवा के लिए उपस्थित हुए इन्द्रों के मणिरचित मुकुट इस माला के पुष्प के जैसे प्रतीत होते हैं, एवं श्रद्धा और भक्ति से भरे हुए भव्यजन ही इस माला पर गुंजार करते हुए भ्रमर के तुल्य प्रतीत होते हैं, ऐसे वे त्रिभुवनपति श्री वीरप्रभु आप सबकी पापों से रक्षा करें ।। ५ ।।

य: कर्मभित् क्रोधकषायमुक्तः
स्वस्थोऽपि यः सर्वगतो, निरीहः ।
संश्चापि यो मोक्षपथस्य नेता
स त्रैशलेयो ह्यवतान्मनो मे ।। ६ ।।

तारुण्ये जयिना स्मरं विजयिनं जित्वा प्रबुद्धात्मनः
दध्रे येन महौजसाऽतितरसा दृष्ट्वा जगद्दुःस्थितिम् ।
दीक्षाऽक्षाश्वबलप्रसारशमने सुप्रग्रहप्रोपमा
सः श्रीमांस्त्रिशलात्मजो भवतु मे संसारतापापहः ।। ७ ।।

स्याद्वादाब्धौ सुविहितमहामज्जनात् या पवित्रा
हेयादेयप्रकटनपराऽऽदित्यतुल्योऽस्तदोषा ।
मिथ्यामार्गं नयपरशुना खंडयन्ती विपक्षम्,
स्वस्यां पूर्णा जयतु सततं शारदा दारिकाऽस्य ।। ८ ।।

जिन्होंने क्रोध कषाय से विहीन होते हुए भी कर्मशत्रु का विनाश किया, आत्मस्थ होते हुए भी जो व्यापक हुए एवं इच्छाविहीन होते हुए भी जो मोक्षमार्ग के प्रणेता हुए, ऐसे वे त्रिशला माता के सुपुत्र श्री महावीर मेरे ज्ञान की रक्षा करें ।। ६ ।।

जिन्होंने संसार को परास्त करनेवाले विजयी कामदेव को भर जवानी में जीता एवं जगत् की दुर्दशा को देखकर जिन्होंने स्वयं प्रबुद्ध होकर बड़े उत्साहपूर्वक शीघ्र इन्द्रियरूपी घोड़ों के बल को रोक देने में उत्तम लगाम के जैसी दैगम्बरी दीक्षा धारण की, ऐसे वे त्रिशला माता के इकलौते लाड़ले लाल श्री वर्द्धमान प्रभु मेरे संसार के संताप को दूर करने वाले हों ।। ७ ।।

वह श्री महावीर प्रभु की दिव्यध्वनिरूप दारिका– पुत्री जो स्याद्वादरूपी महासागर में स्नान करने से पवित्र—निर्दोष हो चुकी है, और सूर्य के जैसी होकर जो हेय और उपादेय के सच्चे स्वरूप को प्रकट करती है, तथा सुनय-रूप परशु के द्वारा जिसने अपने से विपरीत एकान्त मिथ्या-मार्ग का निरसन किया है एवं जो अपने आप में परिपूर्ण है, सदा जयवन्त रहे ।। ८ ।।

दुःखोत्पत्तिर्भवति नियमान्मोहनीयेन जन्तो–
रार्तध्यानं भवति च ततः कर्मबन्धश्च तस्मात् ।
एवं बोधप्रद इह न भवेदागमस्ते जिनेन्द्र !
कः संसारी निजहितरतः स्यात् कथं स्याच्च मुक्तः ॥ ९ ॥

स्वात्मानंदप्रकाशान्निजहृदि समतावल्लरीवृद्धिजुष्टाः
शिष्टाः शिष्टाभिराध्या विधृतशमदमाद्यैर्गुणैः सद्विशिष्टाः ।
हृष्टाश्चारित्रलब्ध्या विमलगुणगणान् निष्ठयाऽऽराधयन्तः
सन्तः सन्तु प्रसन्ना मयि गुणगुरवः साधवः साधुवृत्ताः ॥१०॥

मोहनीय कर्म के उदय से मोहित हुआ यह जीव नियम से दुःख का पात्र होता है, दुःखी होने से आर्त रौद्र ध्यान करता है, इससे नवीन कर्मों का बन्ध होता है, ऐसा, हे जिनेन्द्र ! आपका आगम कहता है। यदि ऐसा बोधदाता आपका आगम संसार में नहीं होता तो भला कौन संसारी जीव अपने हित साधन में लगता एवं कैसे वह कर्मबन्धन से मुक्त होता ? ॥ ९ ॥

जो साधुजन निज आत्मा के आनन्द के प्रकाश से अपने मन में समतारूपी बेल की वृद्धि की चाहना करते रहते हैं, सब प्रकार की अवस्थाओं में जो सन्तुष्ट बने रहते हैं, शिष्टजन जिनकी सेवा करते-करते नहीं अघाते, धारण किये हुए शमदमादि गुणों के कारण जो सत्पुरुषों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, चारित्र की वृद्धि या उसकी प्राप्ति से जिन्हें हर्ष होता है एवं एकनिष्ठा से जो निर्मल गुणों की आराधना में दत्तचित्त रहते हैं ऐसे वे साधुजन जो अपने गुणों के विकास से महिमाशाली हैं और निर्दोष चारित्र की आराधना करने में तल्लीन हैं, मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥१०॥

सम्यग्दर्शनशुद्धबोधचरणं संधारयन्त्यादरात्,
स्वस्थानोचितसद्गुणैश्च विविधैराकर्षयन्त्यंगिनः ।
वैराग्योद्भवकारकैर्हितवहैर्नित्यं वचोभिः श्रिताः,
धन्यास्ते गुरवो दिगम्बरभृतः स्युर्मे भवार्त्तेर्हराः ।। ११ ।।

दुःसाध्यान्यपि यस्य वै सुघटितान्यत्रासतेऽक्षिभ्रमात्,
ज्ञानध्यानतपांसि यस्य दयया सिद्धिं लभन्ते पराम् ।
दुर्गम्याब्धिनगाटवीगतजनो येनैव संरक्ष्यते,
तस्मै सर्वविधायिने च जयिने देवाय नित्यं नमः ।। १२ ।।

वे दिगम्बर मुद्रा के धारी गुरुदेव जो सम्यग्दर्शन से विशुद्ध ज्ञान एवं चारित्र की बड़ी सावधानी के साथ आराधना करते रहते हैं, एवं अपने पद के अनुरूप विविध सद्गुणों के द्वारा मानव मात्र की श्रद्धा के स्थान-भूत बने हुए हैं एवं संसार, शरीर तथा भोगों में आसक्त हुए जीवों को उनसे विरक्ति उत्पन्न करानेवाले सदुपदेशों द्वारा सम्बोधित करते रहते हैं मेरी संसाररूपी व्याधि को दूर करते रहें ।। ११ ।।

जिसकी आंखों के इशारे मात्र से ही कठोर से कठोर भी दुःसाध्य कार्य क्षण मात्र में सुकर—सुसाध्य हो जाया करते हैं—आसान हो जाते हैं तथा जिसकी अनुकूलता के बल पर ही ज्ञान एवं ध्यान की सफल सिद्धि हो जाती है, ऐसे उस सर्वशक्तिमान् विजयी देव को जिसकी कृपा से—अनुकूलता से ही मनुष्य—प्राणी—दुर्गम्य समुद्र, पर्वत और भयंकर अरण्य—जंगल में पड़ जाने पर भी सुरक्षित बना रहता है, मैं नित्य नमस्कार करता हूं ।। १२ ।।

शक्तेर्यस्य कथामपीह गदितुं शक्तोऽप्यशक्तो कविः,
ब्रह्मा, विष्णुमहेशशेषमुनयोऽप्यास्थाय मौनं स्थिताः ।
काऽन्येषां विदुषां कथाऽत्र महतामेतत्त्रिलोकीजनाः,
यस्याग्रे तृणवद्विभान्ति मयि ते निःस्वेऽपि भूयात्कृपा ।। १३ ।।

अम्बादिदासान्तपदोपगूढो विद्यागुरुर्मे जयताद्दयालुः
ब्रुवे महावीरजिनस्य वृत्तं मूर्खोऽप्यहं यत्कृपया पवित्रम् ।। १४ ।।

क्वैतत्पवित्रं विपुलं चरित्रं क्वैषाल्पबोधा मलिना मतिर्मे,
तथापि सन्मत्यनुरागपुण्यात् पूता तदाख्यातुमसौ प्रवृत्ता ।। १५ ।।

प्रभोश्चरित्रं खलु पापहारि प्रणीयमानं सुकृतं ददाति,
अभ्यस्यमानं निजरूपबोधप्रदं च सर्वस्य हितंकरं तत् ।। १६ ।।

जिसकी असाधारण शक्ति की प्रशस्ति ग्रथित करने में जब बृहस्पति जैसा बुद्धि एवं प्रतिभा का धनी अपने आपको अशक्त मानता है तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेषनाग और ज्ञानी मुनिजन भी जिसकी शक्ति का लोहा मानते हैं, तब बिचारे अन्य साधारण विद्वानों की तो बात ही क्या है, ऐसा वह सर्वातिशायी देव—भाग्य जिसका तीनों लोकों के समस्त जीव पानी भरते हैं—जिसके समक्ष तृण के जैसे प्रतीत होते हैं, मुझ गरीब पर सदा दयालु बना रहे ।। १३ ।।

जिनकी अनुपम परमदया के प्रभाव से मैं अल्पज्ञ—मूर्ख भी इस पवित्र महावीर–चरित्र के चित्रण करने योग्य बना हूं ऐसे वे मेरे परमदयालु विद्यागुरु श्री अम्बादास शास्त्री सदा जयवंत रहें ।। १४ ।।

कहां तो यह विशाल पवित्र चरित्र और कहां अल्पबोधवाली मेरी मलिन मति; फिर भी यह सन्मति प्रभु की भक्तिरूप अनुराग से जन्य पुण्य से पवित्र होकर उस विशाल पावन चरित्र का वर्णन करने में प्रवृत्त हो रही ।। १५ ।।

प्रभु के पापनाशक पवित्र चरित्र का वर्णन पुण्य की प्राप्ति का सबल कारण बनता है और जो इसका अभ्यास करता है उसके लिए यह निज स्वरूप का बोधक होता है, अतः यह सब तरह से जीव के हित का ही साधक बन जाता है ।। १६ ।।

वाणी भवेत्कस्यचिदेव भाग्यात्,
साधोर्गुणोत्कीर्तनतः पवित्रा ।
मान्या च धन्या सुरसार्थसेव्या
गुणाढ्यता पूज्यपदाप्तिहेतुः ॥ १७ ॥

कथं न रस्या गुणरागरम्या
वाणी कवीनां श्रवणाभिरम्या ।
श्यामा सुवर्णाभरणान्वितेव
सुसेव्यमाना च मनो मुदे स्यात् ॥ १८ ॥

यथांजनं नेत्रगतं तरुण्याः
विलासवत्याश्च यथांगहारः ।
धिनोति धिन्विष्यति काव्यमेत-
न्नव्यं मदीयं च तथैव धीरान् ॥ १९ ॥

परम पुण्य के उदय से ही किसी-किसी कवि की वाणी साधुजनों के गुणों के वर्णन से पवित्र होती हुई मान्य और धन्य बनती हैं क्योंकि वह सुरस उपंत अर्थवाली होकर सुरसार्थ सेव्य होती है—वाणी में पूज्यता का कारण उसका सद्गुणों से युक्त होना ही होता है ॥ १७ ॥

गुणों के प्रति अनुराग रखने से सुहावनी एवं कानों को आनन्द-प्रदान करनेवाली कविजनवाणी ललितपदावलीरूप सुवर्णाभरणों से विभूषित हुई श्यामा युवती के समान सेवित होने पर मन को प्रसन्न करने वाली होती है ॥ १८ ॥

जिस प्रकार तरुणी के नयनों में लगा अंजन एवं विलासवती नारी का अंगहार–अंगविक्षेप अच्छे-अच्छे धीरों को भी चंचलचित्तवाला बना देता है, उसी प्रकार मेरा यह नवीन काव्य भी रसिकजनों को चमत्कृत कर देगा ॥ १९ ॥

अहो खलस्यापि महाप्रभावो,
भियैव यस्यास्ति कविः सुवृत्तः ।
चकास्ति गोभिः सवितेव यस्य,
मनोऽनुकूला कविताऽकलंका ॥ २० ॥

कविप्रकाशे खल एव हेतुर्यतश्च तस्मिन् सति तत्प्रकर्षः ।
काचं विना नैव कदापि कुत्र मणेः प्रतिष्ठा भवतीति सम्यक् ॥ २१ ॥

दुरस्ति यस्मात् सुजनस्य दुष्टो,
जनोऽथवा दूरगतो जनोऽस्मात् ।
इत्थं निरुक्त्या स गतः प्रसिद्धिं,
परोपतापी किल दुर्जनोऽयम् ॥ २२ ॥

देखो—दुर्जन का भी कितना बड़ा प्रभाव है कि जिसके भय से कवि अपनी कविता में निर्दोष छन्दों की रचना करता है तथा सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों से चमकता है, उसी प्रकार उस कवि की कविता भी अकलङ्क होकर जगत् में चमकती है और सबके मन को मुग्ध कर देती है । ॥ २० ॥

कविजन जो प्रसिद्धि पाते हैं उसमें कारण दुर्जनों का सद्भाव ही है क्योंकि उनके होने पर ही उनका प्रकर्ष होता है । सच है—यदि काच न होता तो मणि की प्रतिष्ठा नहीं होती अतः मणि की प्रतिष्ठा में जैसे काच कारण पड़ता है उसी प्रकार कवि की प्रतिष्ठा में दुर्जन कारण पड़ता है ॥ २१ ॥

सज्जन जिसके व्यवहार से दुःखित हो, अथवा जो दुष्टजन हो, किं वा जिससे साधारणजन भी दूर रहते हों वह दुर्जन है ऐसी यह दुर्जन शब्द की व्युत्पत्ति है । इस व्युत्पत्ति के आधार पर दुर्जन परोपतापी होता है ॥ २२ ॥

सरस्वती सैव मुखं तदेव सैवास्ति जिह्वा रचनाऽपि सैव,
तथाप्यहो ! पश्यत दुर्जनस्य कृन्तन्ति मर्माणि वचांसि चोक्ती ॥ २३ ॥

कलङ्कहीनः सदपूर्वचन्द्रो,
दिवापि विस्तारित कौमुदीकः ।
तनोति दोषोज्झित एव जीवं
जीवं परं मोदभरं महान्तम् ॥ २४ ॥

शशी कलङ्की स्फटिको जडः खं
शून्यं समुद्रोऽपि जडाशयश्च ।
विकारयुक्तः सविषः फणीशः,
सतो न सादृश्यमुपैति कोऽपि ॥ २५ ॥

वही सरस्वती है, वही मुख है, वही जिह्वा है, और वही अकार, ककार आदि शब्दों की रचना है, पर देखो—दुर्जन जब बोलता है तो उसके वे बोल मर्मच्छेदी होते हैं जबकि सज्जन के बोल आनन्दप्रद होते हैं ॥२३॥

सज्जन एक अपूर्व—पूर्णचन्द्रमा है क्योंकि प्रसिद्ध चन्द्र कलङ्कसहित होता है, यह कलङ्कविहीन होता है; वह रात्रि में ही कुमुदावलि का विकासक होता है, यह रात दिवस भी कुमुद–पृथ्वीमण्डल में मुद–आनन्द की वर्षा किया करता है; वह दोषा—रात्रिविहीन नहीं होता, पर यह सज्जन-रूपी चन्द्रमा दोषों से विहीन होता है; वह जीवंजीव—चकवा चकवी को दुःखदायक होता है पर यह जीवंजीव—प्रत्येक जीव को हर्ष का प्रदाता होता है ॥ २४ ॥

चन्द्रमण्डल कलंकसहित है, स्फटिक मणि जड़ है, आकाश शून्य-रूप है । समुद्र "डलयोरलयोरभित्" के अनुसार जड़रूप आशयवाला है । एवं शेषनाग विकारयुक्त तथा विष से भरा हुआ होता है अतः इन सब अवस्थाओं से विहीन सज्जन की ये चन्द्रमण्डल आदि बराबरी नहीं कर सकते हैं ॥ २५ ॥

हरिर्मुरारिस्त्रिपुरारिरुग्रो हिरण्यगर्भः कलहंसवाहः
सेन्द्रश्च संक्रन्दनपारवश्यश्चेन्द्रोऽपि शत्रुर्नमुचेर्न तुल्यः ।। २६ ।।

वाणी यदीया सुमनोऽभिरामा
प्रकाण्डजुष्टा सुरसार्थ सेव्या ।
लतेव कल्पस्य ददाति सौख्यं
मनोऽनुकूला सततं जनेभ्यः ।। २७ ।।

खलस्य निंदा न च सज्जनस्य,
कृता प्रशंसेति मयेत्थमत्र ।
परं यथैवास्त्यनयोः स्वभावः,
प्रदर्शितोंऽशेन गुणः किमाभ्याम् ।। २८ ।।

सज्जन की तुलना में हरि और महादेव इसलिए नहीं आते हैं कि हरि मुर नामक राक्षस का और महादेव त्रिपुर नामक राक्षस का शत्रु है। ब्रह्मा "कलहंसवाह"—कलह-लड़ाई झगड़े में संवाह आनन्द मानते हैं। देव संक्रन्दन—पारवश्य हैं—संक्रन्दन—पारवश्य अच्छी तरह से रोने धोने में पड़े रहते हैं एवं इन्द्र नमुचि का शत्रु है परन्तु सज्जन न किसी का शत्रु है और न कलहप्रिय ही है ।। २६ ।।

सज्जन कल्पलता के समान सुखप्रद होता है क्योंकि उसकी वाणी सुमनोभिराम होती है, विद्वज्जनों को सुहावनी लगती है जब कि कल्पलता पुष्पों से अभिराम होती है। सज्जन की वाणी सु-रस-अर्थ-सेव्य अच्छे-अच्छे रसों एवं वाच्यार्थ से युक्त होती है और कल्पलता सुर-सार्थ-सेव्य—देवों के समूह से सेवनीय होती है। सज्जन की वाणी प्रकाण्ड जुष्टा—विशिष्ट प्रतिभाशाली नरपुंगवों द्वारा प्रेमपूर्वक आदरणीय होती है और कल्पलता सुन्दर तने से सम्पन्न होती है, ऐसी कल्पलता के जैसी सज्जन की वाणी जीवों को मनोनुकूल सुख प्रदान करती है ।। २७ ।।

सज्जन और दुर्जन के इस वर्णन से यह नहीं मानना चाहिए कि मैंने दुर्जन की निंदा और सज्जन की प्रशंसा की है। मैंने तो केवल इन दोनों के स्वभाव का अंशतः प्रदर्शनमात्र किया है—परिचयमात्र दिया है, बाकी मुझे उनसे लेना देना ही क्या है ।। २८ ।।

चिकीर्षितस्यास्य विशुद्धयेऽहं,
नमामि दोषैकदृशं खलं तम् ।
घृणावशाद् यस्य कथा ममेयं,
भवेत् कनिष्ठाऽपि मुदे वरिष्ठा ।। २९ ।।

वचांसि रम्याणि महाकवीनां,
पुरातनानां महताऽऽदरेण ।
क्षमोऽस्म्यहं काव्यमिदं सहायी,
कृत्या क्षमो वक्तुमपि ह्यविशः ।। ३० ।।

खला हसिष्यन्ति हसन्तु कामं,
यतश्च तेषां हृद्वृत्तिरीदृक् ।
मुदं समेष्यन्ति तथापि सन्तो,
निरीक्ष्य नव्यं चरितं ममेदम् ।। ३१ ।।

हां, एक बात अवश्य है कि मैं निर्मातुम् इष्ट इस ग्रन्थ की विशुद्धि के लिए केवल दोषों पर दृष्टि रखनेवाले खलजन को इसलिये नमस्कार करता हूं कि उसकी दया से मेरा यह कथानकरूप ग्रन्थ निर्दोष बनकर छोटा सा होता हुआ भी उपादेय बन जाय ।। २९ ।।

यद्यपि मुझ में इतनी क्षमता नहीं है कि इस ग्रन्थ का निर्माण कर सकूं, परन्तु फिर भी प्राचीन महाकवियों के वचनों की सहायता से मैं इसका निर्माण कर रहा हूं ।। ३० ।।

मेरे इस प्रयास को देखकर हो सकता कि खलजन—दुर्जन मेरी हँसी करें तो भले ही करें क्योंकि उनकी मानसिक वृत्ति ही ऐसी है, फिर भी मुझे विश्वास है कि संतजन—विद्वज्जन इस मेरे नवीन चरित्र को देखकर अवश्य ही आनन्दित होंगे ।। ३१ ।।

सौभाग्यवद्धयस्ति सतः स्वभावोऽ,
सतश्च वैश्वानरवत्तयोर्नः ।
मध्ये स्थितः काञ्चनशुद्धिसिद्धा,
माप्पोस्वयं काञ्चनवत् प्रबन्धः ।। ३२ ।।

देवागमगुरून् नत्वा नुत्वा विद्यागुरूँस्तथा ।
श्री वर्धमानचम्प्वाख्यं काव्यं नव्यं विरच्यते ।। ३३ ।।

यदा खलु ग्रैष्मो रविः स्वकरनिकरैर्जगदिदं संतापयति तदा व्योमै-कान्तविहारिणां खगानां तमत्युन्मुक्तो विहारः स्थगितः संजायते । संजायते च निरुद्धा निरावरणप्रदेशे कान्तारे स्वच्छंदोऽनुवृत्या विहरणशीलानामे-णानामामोदप्रमोदमयी क्रीडा, चंक्रमणं च । अपि चोदन्याकुलितानाममित-प्राणिगणानां पिपासापहारिणः सरोवराः सलिलविरहिता जायन्ते ।

सज्जन का स्वभाव सुहागा के जैसा होता है और दुर्जन का स्वभाव अग्नि के जैसा होता है । सो अग्नि और सुहागा के योग से जिस प्रकार सुवर्ण की शुद्धि होती है, उसी प्रकार सज्जन और दुर्जन के मध्य में स्थित हुआ मेरा यह काव्य भी शुद्धि को प्राप्त करनेवाला होगा, ऐसी मैं आशा करता हूं ।। ३२ ।।

देव, शास्त्र और गुरु को तथा विद्यागुरु को नमस्कार करके—उनकी स्तुति करके मैं अब "श्रीवर्धमानचम्पू" नाम के नवीन काव्य की रचना करता हूं ।। ३३ ।।

जब ग्रीष्मकाल का सूर्य अपनी तीव्र तप्त किरणों से इस जगत् को संतापित करने लगता है, तब आकाशरूपी एकान्त स्थान में विचरण करनेवाले पखेरुओं का स्वेच्छानुकूल विहार बन्द हो जाता है । निर्जन प्रदेशवाले अरण्य में मनमानी उछल-कूद करनेवाले हिरणों की आमोद-प्रमोद भरी क्रीडाएँ एवं इतस्ततः परिभ्रमण करना भी रुक जाते हैं । अगणित प्राणियों की जो कि प्यास से आकुलित हो जाया करते हैं, पिपासा को शान्त करनेवाले सरोवरों की पंक्तियां बिलकुल शुष्क हो जाया करती हैं

भवति च सरसाऽपि तेषां मृत्तिका शुष्कवर्तिकेव नीरसा, जायन्ते च जनानामपीतस्ततो गमनागमनेन विरहिता निर्जनवनप्रदेशा इव निगमा—दीनां पन्थानः प्राणप्रदेनापि समीरेणाप्यरिणेव तदा प्राणापहारिणा संभूयते। निखिला नभश्चराः स्थलचराश्चाश्रान्ता "त्राहि त्राहि" इति ध्वनिं कुर्वन्तः स्वरक्षाकृते भावनां भावयन्ति तापेनासह्येन संत्रस्ताः सन्तः।

तथ्यमेतत्—

सोऽत्रस्तावत्तपति तपनो ग्रीष्मकाले यदेह,
जायेतास्मात् सुखविरहिता प्राणिनां क्लेशहेतुः।
क्षोणी शुष्का भवति सरसा मृत्तिका नीरसा च,
वाति प्राणप्रद इह तदा प्राणहारी समीरः ॥ १ ॥

—उनका जल सूख जाता है यहां तक कि उनकी सरस मृत्तिका सूखी बत्ती के जैसी इकदम नीरस हो जाती है। गमनागमन से बड़े-बड़े नगरों तक की गलियां, राजमार्ग आदि स्थान शून्य—उजड़े हुए जैसे प्रतीत होने लगते हैं। प्राणप्रद वायु भी वैरी के समान उस समय प्राणों का हरण करनेवाली हो जाती है एवं असह्य ताप से दुःखित हुए नभश्चर तथा स्थलचर त्राहि-त्राहि करते हुए अपनी रक्षा की चिन्ता में फँस जाते हैं।

सत्य है—

इस पृथ्वी पर ग्रीष्मकाल में जब सूर्य तीव्ररूप से तपने लगता है तो *उस समय प्राणी बेचैन हो जाते हैं, आतपजन्य दुःख का ही उन्हें अनुभव* होता रहता है, पृथ्वी पर उष्णता के प्रभाव से शुष्कता आ जाती है, तालाबों की सरस मिट्टी भी नीरस हो जाती है एवं प्राणप्रद वायु भी प्राणहारी जैसा हो जाता है। ॥ १ ॥

तस्मिन् काले खरतरकरैरुष्णगोस्तापितानां,
छंदोवृत्त्या विहरणवतां दुर्गमेऽरण्यभागे।
क्रीडनानां भवति नितरां संनिरुद्धा, निरुद्धं,
संपन्नेतागमनगमनं चापि नूनं जनानाम् ॥ २ ॥

ज्येष्ठे मासे मृगस्तावन्मृगतृष्णाविमोहितः ।
पिपासाकुलितस्तापात् तप्तः प्राणान् विमुञ्चति ॥ ३ ॥

उदन्याकुलिता जीवा जलमिच्छन्ति शीतलम् ।
घर्मार्त्ताः सघनां छायां पेयमिभ्याः कुलस्थिताः ॥ ४ ॥

महतीमीदृशीं जगतो दुर्दशां व्याकुलतां च समीक्ष्य प्रकृतिरात्मनि परिवर्तनं विदधाति । सद्यस्तदा नभोमण्डलं सजलजलदैराच्छादितं

दुर्गम अरण्य में मृग आनन्दप्रद विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते हैं, पर जब गर्मी का प्रकोप बढ़ जाता है तब उनकी क्रीड़ाएँ और जवान पुरुषों तक के गमनागमन बंद हो जाते हैं ॥ २ ॥

ज्येष्ठ मास के सूर्य के चिलचिलाते हुए ताप से संतप्त हुआ मृग जब प्यास से आकुलित हो जाता है, तब वह बालुका के चमकते हुए कणों को पानी समझकर अपनी पिपासा बुझाने के लिए उस ओर दौड़ लगाता है, पर उसे वहां पानी नहीं मिलता। इस तरह पानी की आशा से दौड़ लगाता सूर्य की तीक्ष्ण गर्मी से संतप्त हुआ वह मृग अन्त में अपने प्यारे प्राणों से हाथ धो बैठता है ॥ ३ ॥

इस समय प्यास से संत्रस्त हुए जीव शीतल जल की चाहना करते हैं। गर्मी से–धूप से तपे हुए जीव सघन छाया की कामना करते हैं एवं धनपति अपने निवास–भवनों में रहते हुए ही शीतलपेय–ठण्डाई आदि की इच्छा करते हैं ॥ ४ ॥

संसार की ऐसी भयङ्कर स्थिति का और उसकी व्याकुलता का निरीक्षण कर प्रकृति उस समय अपने आप में परिवर्तन लाती है। शीघ्र ही

जायते । तीव्रातपोद्भूत संतापवारणाय च वात्या प्रवहति वारिदाः सलिल-बिन्दून् शनैः शनैर्भूमौ निपातयन्ति । पश्चात् पृथ्वीतो वाष्पच्छद्मनो पूर्वं गृहीतं तोयं वृद्धिसमन्वितं विधाय ते धारासंपातेन तद्वर्षयन्ति । पश्चात्पृथ्वीतो वाष्पच्छद्मना पूर्वं गृहीतं तोयं वृद्धिसमन्वितं विधाय प्लाविता पृथ्वी न केवलं स्वीयामेव पिपासा प्रशमयति, परंच भविष्यति कालेऽपि प्राणिनां पिपासापनुदे स्वकोशमपि सलिलसमूहैः बिभर्ति । जनताया आमोद-प्रमोद कृते च सा हरिततृणाङ्कुरच्छद्मना भूमेरुपरि श्यामलं शष्प-प्रशस्तपटलपटमप्यास्तृणोति । इत्थं प्रकृतेः परमकृपया जगतः सन्तापो ग्रैष्मप्रभावश्च प्रशमितो जायते । प्रसरन्ति च सर्वत्र तदा दिक्षु विदिक्ष्वपि प्रमोदभृतां नरपशुपक्षिणाममन्दानन्दध्वनय इतस्ततः सोल्लासा जगति ।

उस परिस्थिति में नभोमण्डल मेघों से धीरे-धीरे आच्छादित होने लगता है । वे मेघ सजल होते हैं । आंधियां आती हैं । मेघों से शनैः शनैः पानी की बूंदें बरसने लगती हैं । भाप के द्वारा पृथ्वी से ग्रहण किये हुए जल को ब्याज सहित चुकाने के लिए ही मानो मेघ मूसलाधार वृष्टि करने लगते हैं । पृथ्वी के ऊपर चारों ओर जल ही जल दिखने लगता है । इस तरह प्रकृति-प्रदत्त जल से केवल पृथ्वी अपनी ही प्यास शान्त नहीं करती है, किन्तु आगे भी प्राणियों की प्यास शान्त होती रहे इसके लिए वह अपने में जल का अथाह भण्डार भी भर लेती है तथा जनता खुशहाल रहे—आमोद-प्रमोद में मग्न रहे, इसके लिए वह पृथ्वी पर हरी-हरी घास का गलीचा भी बिछा देती है । यह सब जो कुछ होता है वह प्रकृति की परम कृपा से ही होता है । जगत् का गर्मीजन्य संताप और उसका प्रभाव शान्त हो जाता है । दिशाओं और विदिशाओं में भी आनन्दित हुए मनुष्य और पशु-पक्षियों की आनन्द ध्वनियां इधर-उधर फैलती हुई सुनाई पड़ने लगती हैं ।

सत्यमेतत्—

धन्या सा प्रकृतिर्यदीयकृपया व्यालोऽपि मालायते
क्ष्वेडो वाऽस्य सुवृष्टिरागवशतः पीयूषकोशायते ।
दुर्गः स्वर्गनिभोऽनलो-जलसमो खड्गोऽपि हारायते,
दुर्दान्तोऽपि करी हरिश्च हरिको भीमोऽपि शिष्यायते ।। ५ ।।

महाप्रभावः प्रकृतेर्यदा सा, संजायते कोपवती तदा स्युः ।
कार्याण्यनिष्टानि वसुन्धरायां धरापि विस्फोटवती क्वचित्स्यात् ।।६।।

विकारहीनप्रकृतेः प्रभावात् समन्ततो वृद्धिमुपैति भद्रम् ।
नूनं पृथिव्यां नितरामनन्तं भवन्त्यरण्येऽपि च मंगलानि ।। ७ ।।

यह सत्य है कि—

वह प्रकृति धन्य है जिसकी परम कृपा से विषधर सर्प भी पुष्पमाला के जैसा हो जाता है, विष भी अमृत के कोश जैसा बन जाता है, भयंकर दुर्गम स्थान भी स्वर्ग के तुल्य सुखप्रद हो जाता है, अग्नि पानी के जैसी, तलवार कण्ठ के हार जैसी एवं दुर्दान्त गजराज भी विनीत घोड़े के समान हो जाता है। ज्यादा क्या कहा जावे—भयप्रद—विकराल केशरी भी जिसकी अनुकूलता के बल पर शिष्य के जैसा आचरण करने लग जाता है ।। ५ ।।

प्रकृति का प्रभाव बहुत विशिष्ट होता है। जब वह कोपवती हो जाती है तो इस पृथ्वी मण्डल के ऊपर अनेक अनिष्ट कार्य होने लगते हैं। कहीं-कहीं यह धरा भी स्वयं फट जाती है ।। ६ ।।

जब प्रकृति स्वस्थ होती है, तब इसी वसुन्धरा पर अनेक मांगलिक कार्यों की सब ओर सृष्टि होने लगती है और वृद्धि भी होने लगती है। यहां तक कि जंगल में भी मंगल होने लग जाते हैं ।। ७ ।।

सर्वं सहेयम् प्रकृतिः स्वभावात्,
यदा विरुद्धा विषमाऽथवा स्यात् ।
तदा पृथीव्यां प्रसरत्यकालो,
वृष्टेरभावो बहुवृष्टि सृष्टिः ॥ ८ ॥

एवमेव यदा स्वार्थान्धीकृतविवेकचक्षुषो मानवाः स्वाभिप्रायं कुत्सितं साधयितुमीहन्ते तदा ते निःशङ्कीभूय संसृतौ विविधं दुराचार-मत्याचारं च सृजन्ति। तत्सिद्धये विविधाभिः कुयुक्तिभिस्तयोः पोषणं संवर्धनं च विदधति। एवं दुराचारादीनां प्रसरणे प्रचारे च सति कृपा-पात्रभूता अपि दीनहीनदशाऽपन्नाः प्राणिनस्तदा नैर्घृण्यवैषण्यां पिष्टा भवन्ति। ये च सन्ति रक्षकास्तेऽपि तस्मिन् काले मक्षिका इव भक्षकाः संजायते। दयालवोऽपि हा ! हन्त ! निर्दयान्तःकरणाःसो गर्हिताचरण–

अतिवृष्टि का होना, वृष्टि का नहीं होना तथा अकाल का पड़ना ये सब प्रकृति की विकृति के फल हैं। प्रकृति यद्यपि स्वभावतः सर्वसहा है; परन्तु जब यह विरुद्ध या विषम अवस्थावाली हो जाती है तब ये सब विकार पृथ्वी पर देखने में आते हैं ॥ ८ ॥

जब मानव की स्वार्थवश विवेकरूपी आंखें अंधी हो जाती हैं, तब वे अपने कुत्सित अभिप्राय को हर तरह से सिद्ध करने की चेष्टा करने की ओर अग्रसर हो जाते हैं, उन्हें न किसी का भय होता है और न किसी प्रकार की शंका। संसार में वे अनेक प्रकार के दुराचार अत्याचार के सर्जक होते हैं; उनका वे प्रचार और प्रसार करते रहते हैं। इनके प्रचार और प्रसार की पुष्टि में वे अनेक विध कुयुक्तियों का सहारा लेते हैं। ऐसे-ऐसे कदाचारों का जब प्रचार और प्रसार बढ़ जाता है तब दया के पात्र-भूत भी दीनहीन दशापन्न प्राणी उस समय निर्दयता की चक्की में पिसते रहते हैं, जो इनके रक्षक होते हैं, वे भी उस काल में मक्खियों की तरह भक्षक बन जाते हैं। दयालु जन भी, बड़े दुःख की बात है कि, दयाहीन होकर मलिन आचार-विचार वाले बनकर उन पर कहर बरसाने लगते

सम्पन्नाश्च भूत्वा भ्रकुंशायन्ते। धार्मिका अपि दाम्भिका इव स्वीयां धर्ममयीं प्रवृत्तिमुज्झित्वा बदराकारवद्बहिरेव मनोहराः प्रतीयन्ते, नाभ्यन्तरे। दीनानां सहायकवर्जितानां सत्वानां बलविरहितानां मूकानां च पश्वादीनां करुणध्वनिं न कोऽपि तदा संशृणोति। आचारविचारव्यवस्थेत्थमस्तव्यस्ता निरर्गला च संजायते। तदा निष्कम्पापि प्रकृतिः स्वात्मनि सकम्पा भवति। प्रवहति तस्याः करुणस्रोतो जगदाचार विचार—विलोपापनोदाय। तत्प्रभावाद्विशिष्टधर्मप्रभावाद्वा यथा वियति वारिदाः प्रभवन्ति तथैव जगत्यपि कश्चिदीदृक् प्रभावशाली साहसनिधिर्नेता। वीरावतंसो वीराग्रणीः प्रभवति, योऽत्याचारानाचारनाचरतां दुर्दान्तद्विपानामिव जनानां स्वेच्छाचारं निरस्यति। संकटग्रस्तानां दुर्दशागर्तपततां च सत्वानां संकटं दुर्दशाव्यवस्थां च दूरी करोति प्रदर्शयति च सर्वेभ्यः सत्पथम्।

हैं एवं बाहर में वे नटों के जैसे होकर दयालु होने का ढोंग रचते रहते हैं। इसी तरह जो धार्मिकजन माने जाते हैं वे भी अपनी धार्मिक वृत्ति को छोड़कर बेर के आकार जैसे होकर जनता के समक्ष आते रहते हैं—ऊपर से ही वे चिकने चुपड़े प्रतीत होते हैं; आभ्यन्तर उनका धार्मिक प्रवृत्ति से बिलकुल शून्य बना रहता है। उस समय दीन, सहायविहीन, कमजोर मूक पश्वादिप्राणियों की करुण पुकार कोई नहीं सुनता है। आचार विचार व्यवस्था इस प्रकार जब अस्त-व्यस्त एवं निरंकुश हो जाती है, तब निष्कंप भी प्रकृति अपने आप में सकंप होकर उस अव्यवस्थित एवं निरर्गल जगत् के आचार-विचार को नष्ट करने के लिए अपना करुण प्रवाह बहाती है। इसके प्रभाव से आकाश में जैसे बादल हो जाते हैं उसी प्रकार से जगत् में भी कोई एक ऐसा प्रभावशाली साहसनिधि नेता, जो कि वीरशिरोमणि होता है, जन्म लेता है जो अत्याचार एवं अनाचार करनेवाले दुर्दान्त हाथी के समान अत्याचारी जनों के अत्याचारों एवं अनाचारों को दूर कर देता है, तथा संकटग्रस्त एवं दुर्दशारूप गर्त में पतित प्राणियों के संकटों को एवं दुर्दशारूप विशिष्ट अवस्था को दूर करता है और उनके लिए सत्पथ पर चलने का सुन्दर मार्ग प्रदर्शित करता है।

सत्यमिदम्—

भवत्यनाचारविशिष्टसृष्टिर्यदा जगत्यां, प्रकृतिः स्वयं द्राक् ।
प्रकम्पते, तत्प्रभवप्रभावाद्वीरावतंसो गुणराशिपूतः ॥ ९ ॥

उदेति कश्चिज्जगतो विपत्तिं दूरीभवेत्सत्प्रबलोपदेशात् ।
त्राता च नेता च भवत्यसौ ऽयं सर्वस्य जन्तो हितकारकत्वात् ॥१०॥

इतः षष्ठीशताधिकद्विसहस्राब्देभ्यः पूर्वं शुम्भम् भारतभूरपि धर्मप्राणा पापभारेणाक्रान्ता सती प्रकम्पिता जाता । तस्मिन् काले धर्मगुरुत्वेन धर्मावतारकत्वेन जनतया ये जनाः संमानिता आसन् तेषामेव पिशिताशनाभिलाषया लपनं मांसभक्षणे लुब्धं जातम् । अतस्ते स्वीयां तां मांसशोणितभक्षणाभिलाषां निरोद्धुमक्षमाः सन्तः स्वर्ग-राज्य-पुत्र-धनप्राप्ति-

---

सच है—जब संसार में अनाचार—अत्याचारों का साम्राज्य छा जाता है तब प्रकृति में बहुत जल्दी प्रकम्पन होता है—वह करवट बदलती है। इसके प्रभाव से कोई गुणराशिस्वरूप वीरशिरोमणि महान् आत्मा उत्पन्न होता है जो अपने प्रबल उपदेशों के द्वारा उसकी विपत्तियों को चकनाचूर कर देता है। मानव के मानसपटल को बदल देता है। अतः समस्त प्राणियों का हितसाधक होने के कारण वही जगत का त्राता और नेता बन जाता है।

आज से २६०० वर्ष पहले धर्मप्राण यह भारतभूमि पाप के भार से आक्रान्त हो रही थी। अतः उस काल में जनता ने जिन्हें अपना धर्मगुरु और धर्मावताररूप से मान रखा था, उनका स्वयं का लपन मांस खाने की अभिलाषा से लोलुप बन गया था। उन्होंने जनता को गुमराह किया और अपनी मांसभक्षण की अभिलाषा को शान्त करने के लिए उसे "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" "अजैर्यष्टव्यं" इन वेद मन्त्रों का प्रमाण देकर पशुयज्ञ करने के लिए बाध्य किया। जनता भोलीभाली थी। वह इनके चंगुल में फंस गई। जनता को यज्ञ करने के फलस्वरूप यह बतलाया जाने लगा कि यज्ञकर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, राज्य का लाभ होता है। पुत्र के मुंह को देखने का सुनहरा अवसर मिलता है, धन का उसके घर में

प्रलोभनैर्जनतां समाचक्रुषुः । आकृष्टया तया मुग्धया ते यज्ञानकारयन् । "यज्ञार्थं पशवः स्रष्टाः, अजैर्यष्टव्यं" इत्यादिभिर्वेदवाक्यैरनेकैश्च मंत्रैस्तानाकृष्य तेषु यज्ञेषु निरागसां निरीहाणां मूकानामजादिपशूनां बलि दापयन्ति स्म । यदा कदा स्वयमपि च धर्मोऽयमिति घोषणापूर्वकं ताश्चि-हत्य तन्मांसैर्हवनं कुर्वन्ति स्म ।

हेयादेयविवेकविकला गौरिव सरलस्वभावा मुग्धा जनता स्वार्थ-साधनतत्पराणां तेषां धर्मगुरुत्वेन मन्यमानानां वचनं परमात्मवचनं मत्वा दयोज्झितमपि तत्पापकृत्यं धर्मोऽयमित्यमन्यत । नासीत्तदा कोऽपि तेषां दयार्हाणां निर्बलानां सहायकविहीनानां करुणोत्पादकवाच्यां श्रोता दयार्द्रितान्तःकरणस्तद्रक्षणबद्धकक्षः कोऽपि त्राणकर्त्ता, अतो मांसलुब्ध-कानां तेषां धर्मान्धभक्तानां पुरोहितानां पिशिताशनगृद्धितारूपः स्वार्थो जनतायाश्च धर्मविषयकज्ञानाभावस्तत्पापकृत्यस्य नेतृत्वमकार्षीत् ।

अम्बार लगा रहता है । इस तरह के प्रलोभनों के जाल में इन्होंने जब जनता को फँसा लिया तो वह निधड़क होकर यज्ञ करवाने लगी । दीन-हीन निरपराधी पशुओं की बलि दी जाने लगी । यदा कदा पुरोहितजन भी यह कृत्य "धर्म है" इस प्रकार की घोषणा करते हुए मारे गये पशुओं के मांस से हवन करने लगे ।

उस समय जनता इतनी अधिक भोली थी कि 'हेय क्या है और उपादेय क्या है' वह यह नहीं जानती थी । अतः हेयोपादेय के ज्ञान से विकल हुई जनता ने जो गाय के जैसी सीधी साधी थी स्वार्थ के साधन में तत्पर इन धर्मगुरुओं के कथन को ईश्वर का वाक्य मानकर ही इस पापमय कार्य को धर्मरूप से अपनी श्रद्धा का विषय बनाया—उसे तन्मय होकर अंगीकार किया ।

उस समय दीनहीन दयार्ह मूक प्राणियों की करुणध्वनि को सुनकर जिसका हृदय पसीज जावे ऐसा कोई भी नहीं था और न ऐसा भी कोई था जो उनकी रक्षा करने में अपनी कमर बांधकर आगे आता अतः मांसलुब्धक उन धर्मान्ध गुरुओं के—पुरोहितों के मांसभक्षणकरनेरूप स्वार्थ ने और जनता के अज्ञान ने उस पापकृत्य का नेतृत्व किया । उस

तस्मिन्नवसरे जनसाधारणकृते सज्ज्ञानप्रकाशप्रदायकस्य तेषां कुमार्गगामिनां भ्रष्टानां धर्मान्धभक्तानां पुरोहितानां हृदयपरिवर्तनकारकस्य च जनस्यातीवावश्यकताऽऽसीत् यतो धर्मप्राणस्वरूपस्य भारतस्यायं महान् पापकलङ्कपङ्कोऽकरात् प्रक्षालितः स्यात्, लघिष्ठो वा भवेत्। दुर्गन्धो वाऽस्य देशाद्बहिर्निर्गतो वा जायेत

गाढान्धकारे पतितस्य पुंसो
यथाऽस्ति दीपः शुभमार्गदाता।
ज्ञानं तथाऽज्ञानतमस्यपारे
निमग्नचित्तस्य हितप्रकाशि ।। ११ ।।

यस्मान्निवृत्तिरहिताद्धितस्य संप्राप्तिरीदृशं ज्ञानम्।
विपरीताभिनिवेशान्निर्मुक्तं प्रमाणपदसेवि ।। १२ ।।

काल में जन-साधारण के लिये ज्ञानरूपी प्रकाश देनेवाले की एवं उन कुमार्गगामी भ्रष्ट धर्मान्धभक्त पुरोहितों के हृदय को परिवर्तन करानेवाले जन की अनिवार्य आवश्यकता थी; जिसके प्रभाव से धर्मप्राण-स्वरूप इस भारतवर्ष से यह महान् पापकलङ्क प्रक्षालित हो जावे या बहुत ही कम हो जावे; अथवा इस देश से इसकी दुर्गन्ध ही बाहर निकल जावे।

गाढ़ अन्धकार में पतित व्यक्ति को शुभमार्गका दिखानेवाला जैसा दीपक होता है, वैसा ही ज्ञान अज्ञान रूपी अन्धकार में डूबे हुए प्राणी को उसका हितप्रदर्शक होता है ।। ११ ।।

जिस ज्ञान से अहित का परिहार हो और हित की प्राप्ति हो ऐसा विपरीताभिनिवेश से रहित ज्ञान ही प्रमाणभूत होता है, अर्थात् ऐसे प्रमाणभूत ज्ञान से ही जीव को हित-प्राप्ति और अहित से उसका अपना बचाव होता है ।। १२ ।।

हिंसादिदुष्कृत्यविधानदक्षं ज्ञानं न सज्ज्ञानमनर्थकृत्वात् ।
न तेन शान्तिं न सुखं लभेत जीवः परत्रेह कदापि किञ्चित् ।। १३ ।।

यत्रास्ति हिंसा न समस्ति तत्र,
धर्मो यतः प्राणिदयान्वितः सः ।
न बालुकापेषणतः समाप्ति,
स्तैलस्य कुत्रापि कदापि दृष्टा ।। १४ ।।

प्राणिनां पीडनं पापं यत्राऽस्ति तत्कथं भवेत् ।
धर्मो धर्मस्त्वहिंसैव तत्त्वज्ञैस्तद्विचार्यताम् ।। १५ ।।

जीव जिस ज्ञान से हिंसादिदुष्कृत्यों के करने में प्रवृत्त हो जावे – दक्ष हो जावे वह ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है । वह तो कुज्ञान है । ऐसे ज्ञान से जीव को न इस लोक में शान्ति और सुख मिलता है और न परलोक में ही ।। १३ ।।

जहां प्राणियों पर दया है वहीं धर्म है और जहां उनकी हिंसा है वहां अधर्म है । जैसे बालुका के पेलने से जीव को तेल की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही हिंसा से धर्म की प्राप्ति नहीं होती ।। १४ ।।

प्राणियों को पीड़ा पहुँचाना पाप है । यह पाप जहां पर है वहां धर्म कैसे हो सकता है ? धर्म तो अहिंसा रूप ही होता है ।। १५ ।।

भ्रष्टान्धधर्मसक्तानां
पापाशनविलोभिनाम् ।
सदाचारविहीनानां,
मत्याचारविधायिनाम् ॥ १६ ॥

धर्माधर्मविवेकेन,
हीनानां धर्मलोपिनाम् ।
सद्धर्मशिक्षकः कश्चिन्,
महात्मा जायते ध्रुवम् ॥ १७ ॥

आसीत्तस्मिन् काले जनधनाकीर्णा विशला विशालशालान्विता वैशालीनामधेया नगर्येका। नगरीयं जम्बूद्वीपस्थित-भरतक्षेत्रार्यखंडान्तर्गतविदेहप्रान्तस्थमुजफ्फरपुरमण्डलाधीनवसाढनिगमनिकटस्था ।

जो धर्म-भ्रष्ट हैं, धर्मान्ध हैं, मांस भक्षण करने में लुब्ध हैं, सदाचार-विहीन हैं, अत्याचार करने में निपुणमति हैं, धर्म-अधर्म के विवेक से रहित हैं एवं धर्मविध्वंसक हैं ऐसे आततायियों को सद्धर्म की शिक्षा देनेवाला कोई न कोई महात्मा इस संसार में समयानुसार जन्म धारण करता ही है ॥ १६–१७ ॥

उस काल में जनधन से परिपूर्ण एक विशाल वैशाली नाम की नगरी थी। इसके चारों ओर कोट था। यह नगरी जम्बूद्वीपस्थित भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के अन्तर्गत विदेह (बिहार) प्रान्त में वर्तमान जिला मुजफ्फरपुर के वसाढ ग्राम के निकट थी।

संक्षेपतो जंबूद्वीपस्य वर्णनम्—

अथाऽस्ति वृत्तः प्रथितः पृथिव्यां,
स्वःकीर्तिकान्त्याऽर्पित दैन्यभारः ।
सुराद्रिमध्यो लवणाब्धिवप्रो,
द्वीपः स जम्बूपपदो विशालः ।। १८ ।।

द्वीपान्तरश्रेण्युपरिस्थितोऽसावुद्यम्ययोनाकिनगोत्तमाङ्गम् ।
विभाति पश्यन्निव दिग्गतांस्तान् द्वीपान् स्वलक्ष्म्यैव विलज्जितांस्तान्
।।१६।।

अस्मच्छ्रिया लज्जित ! बन्धुवृन्द !, मा भूः परासुः पतनेन वार्धौ ।
इत्थं कृते ते न समस्त्यभिख्या, स्यामत्र भूचक्रबहिष्कृतोऽहम् ।।२०।।

द्वीपांस्तटस्थानिति बोधनाय कृताऽञ्जलि येन सुराद्रिदम्भात् ।
महाभयाढ्येन धुतापगाख्या–जान्मुक्तनेत्राश्रुवशान्वितेन ।।२१।।

संक्षेपतः जम्बूद्वीप का वर्णन—

इस भूमण्डल पर गोल चूड़ी के आकार जैसा एक द्वीप है। इसका नाम जम्बूद्वीप है। यह सबसे पहला द्वीप है। इसकी कीर्ति और कान्ति के आगे स्वर्ग भी लजाता है। इसके ठीक बीचों-बीच एक पर्वत है जिसका नाम सुमेरु है। जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए कोट के जैसा लवण समुद्र है ।। १८ ।।

द्वीपान्तरों के ऊपर रहा हुआ यह जम्बूद्वीप सुमेरुपर्वत रूप अपना मस्तक ऊपर उठाकर—ऊंचा कर–अपनी लक्ष्मी से लज्जित हुए उन भिन्न-भिन्न दिग्स्थित पर्वतों को ही मानो देख रहा है और उनसे "हे बन्धुवृन्द ! आप सब मेरी लक्ष्मी के आगे लज्जित हो जाने के कारण कहीं ऐसा न कर बैठना कि पास के समुद्र में डूबकर अपने प्राणों को गंवा दें। यदि आप लोगों ने ऐसा किया तो मैं हत्यारा माना जाऊंगा और ऐसी स्थिति में मेरा जाति से बहिष्कार हो जायेगा। अतः आप लोग यह अशोभनीय कार्य न करें" ऐसी प्रार्थना वह सुमेरुपर्वत के बहाने से ही मानो हाथ जोड़कर एवं अपने में बहती हुई नदियों के छल से उनके समक्ष अश्रु बहाकर (उन तटस्थ द्वीपों से) कर रहा है ।। १६–२०–२१ ।।

जिनाभिषेकाय सुराङ्गनाभिः,
सुरैश्च शच्येह समागतस्य ।
शतक्रतो मेरुपदेन दत्तो,
द्वीपश्रिया दोष इवाश्रयः किम् ।।२२।।

अन्यादिसंकल्पितलोकरूपः,
सत्यङ्नवास्तीति विलोकनाय ।
सूक्ष्मेक्षिकातो युगलेन्दु सूर्य–,
व्याजाद् दधातीव महोपनेत्रे ।।२३।।

धरेऽन्तरं मे वियतश्च मध्ये,
कियद्भवेद्वेति बुभुत्सया यः ।
सुचिह्नितं सौमनसादिभिस्तैः,
मेरुन्मिषेणैव च मानसूत्रम् ।।२४।।

जिनेन्द्र प्रभु के जन्म कल्याणक का अभिषेक करने के लिए प्रथम स्वर्ग से अपनी इन्द्राणी, देव और देवाङ्गनाओं के साथ आनेवाले इन्द्र के लिए उस द्वीपश्री ने उतरने के निमित्त सुमेरुपर्वत के व्याज से मानो यह हाथ का सहारा ही दे रखा हो ।। २२ ।।

मैं तो ऐसा मानता हूं कि 'अन्य सिद्धान्तकारों ने जो लोक का स्वरूप माना है वह सत्य है या नहीं' इस बात को सूक्ष्मदृष्टि से विचारने के लिए ही—जांच करने के लिए ही—इस द्वीप ने चन्द्र और सूर्य के व्याज से दो बहुत बड़े उपनेत्र (चश्मा) लगा रखे हैं ।। २३ ।।

'मुझ में और आकाश में कितनी दूरी का अन्तर है' यह जानने के लिए ही मानो इस द्वीप ने सुमेरु पर्वत के बहाने से ही सौमनसादि वनों से चिह्नित यह मानसूत्र धारण कर रखा है ।। २४ ।।

स्वपादपद्मैरसकृच्च साधो ! कृतं कृतार्थं गृहमस्मदीयम् ।
पुरातनैस्तैस्त्वद्वंशजैस्तैः राद्येन्द्र ! निर्वाणपुरीं प्रयातैः ।। २५ ।।

त्वयैवमभ्यार्य ! मुमुक्षुणा नौ कुलक्रमेणानुगतं सुसख्यम् ।
पाल्यं, समादाय तदीयमित्थं वृत्तं दिवं गच्छति मेरुदूतः ।। २६ ।।

षडायताः सन्ति नगाश्च, सप्त,
क्षेत्राणि, नद्योऽत्र चतुर्दशाढ्याः ।
वनैर्धयाढ्योऽपि सदा स्थिरो यो,
लक्ष्म्यालयो योजनलक्षमानः ।। २७ ।।

नद्यम्बुतैलाञ्चितविस्तृतान्तः सुमेरुशृङ्गोरुदशोऽयमेद्रोः ।
प्रभाभरोऽसौ गगनाञ्जनश्रीः स्वर्द्योतितुं दीपति दीप्तरूपः ।। २८ ।।

"हे प्रथमस्वर्गाधिपते शक्र ! जब-जब आपके वंशज मोक्षपुरी में गये हैं, तब-तब उन्होंने हमारे घर को अपने चरणकमलों से पवित्र किया है अर्थात् वे यहां कुछ दिन ठहरकर ही बाद में मोक्षपुरी में गये हैं । अतः जब आप भी मोक्षपुरी जाने लगें तो कुल परम्परा से चले आये हुए इस मैत्रीभाव को निभावें ।" इस प्रकार के इस जम्बूद्वीप के दिये गये सन्देश को लेकर ही मानो सुमेरुपर्वतरूप दूत स्वर्ग की ओर जा रहा है ।।२५-२६।।

इस जम्बूद्वीप में पूर्व से पश्चिम तक लम्बे ६ पर्वत हैं, ७ क्षेत्र हैं, गंगा आदि १४ नदियां हैं, सौमनस आदि वनों एवं अपनी विशिष्ट-कान्ति से यह सदा सुशोभित रहता है, यह स्थिर है, लक्ष्मी का भण्डार और एक लाख योजन के विस्तारवाला है ।। २७ ।।

यह जम्बूद्वीप स्वर्गलोक को प्रकाशित करने के लिए चमकीले रूप वाले एक दीपक के जैसा है । नदियों का जल ही इसमें तेल है । सुमेरुपर्वत का शिखर इसकी विस्तृत बत्ती है । सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा इसका विशिष्ट प्रकाश है और आकाश ही इसका निर्गत अंजन है ।। २८ ।।

भरतक्षेत्रस्य वर्णनम् —

वदान्यताधरकृतकल्पवृक्षैर्जनैः सदाचारपवित्रिताङ्गैः ।
धन्यैः सुमान्यैः सुरतुल्यरूपैः श्रिया समालिङ्गितचारुवेषैः ।। २९ ।।
निःसेवितः स्वर्गनिभः पवित्रस्तीर्थंकरोत्पत्तिविशिष्टशिष्टः ।
द्वीपेऽस्त्यमुष्मिन् खलु भारताख्यो देशो विवस्वानिव चान्तरिक्षे ।। ३० ।।

तद्दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानो,
देशोऽस्त्यसौ प्राणिगणैः सुपूज्यः ।
यतो हि कांक्षंति सुरा अपीमं,
नृजन्मने स्वात्महिताभिलाषात् ।। ३१ ।।

क्षेत्रं समृद्ध्या परिपूर्णमेतत्,
समस्ति पुण्यात्मधर्मैर्वरिष्ठम् ।
मन्दाकिनीसिन्धुतरङ्गिण्यद्रि—,
विभक्तषट्खंडसुमण्डितं तत् ।। ३२ ।।

इस जम्बूद्वीप में एक भरतक्षेत्र नाम का देश है। यहां के निवासी जन सदाचार से पवित्र और दान धर्म की प्रवृत्ति से सदा हरे भरे बने रहते हैं। इनकी वदान्यता—दानशीलता—को देखकर कल्पवृक्ष भी नीचे झुक गये। देवताओं के जैसा इनका रूप सौन्दर्य होता है। ऐसे महामान्य धन्य-जनों द्वारा यह देश सुसेवित है। इस देश की विशिष्टता का एक सबसे बड़ा कारण यह है कि इसे तीर्थंकर अपनी उत्पत्ति का स्थान बनाते हैं। जैसे आकाश में सूर्य चमकता है वैसे ही इस द्वीप में यह देश चमकता है। ।।२९-३०।।

जम्बूद्वीप की दक्षिणदिशा में यह भारत नाम का देश है। समस्त प्राणी इसकी पूजा करते हैं अर्थात् यहां जन्म लेकर वे अपने आपको भाग्यशाली मानते हैं। इसीलिए देवता भी आत्मकल्याण करने की कामना से यहां मनुष्य जन्म धारण करने के लिए लालायित रहते हैं ।। ३१ ।।

पुण्यात्माओं द्वारा सर्वतोभद्र बना हुआ यह क्षेत्र समस्त प्रकार की ऋद्धि से परिपूर्ण रहता है। गंगा और सिन्धु तथा विजयार्ध पर्वत, इनके द्वारा विभक्त होकर इसके ६ खण्ड हो गये हैं ।। ३२ ।।

सीमोपरि ह्यस्य विराजमानः पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य ।
विशोभते पद्मजलाशयाङ्कः शैलाधिराजो हिमवान् सुशैलः ॥३२॥

तत्रास्ति भूमण्डलमण्डनं यं,
खंडं तवार्याभिधमुत्तमाङ्गम् ।
अंगेष्विवानन्दितसर्वलोकं,
तीर्थंकरोत्पत्तिपवित्रभूमि ॥ ३३ ॥

अथार्यखंडालंकारभूता सा मुक्त्यङ्गनालीव वैशाली गणतन्त्रशासनस्य केन्द्रस्वरूपा लिच्छविगणतन्त्रशासनस्य गणनायको निखिलगुणगण-पेटको राजाऽऽसीच् चेटकः । आसीदयं सद्गुणानामेव श्रावको न तु दुर्गुणा-नाम् । कान्ताचरणमग्नोऽप्ययं नातिशयेन कान्ताचरणमग्नः, समन्तभद्रोऽ-

---

इसकी सीमा पर शैलाधिराज हिमवान् नामका पर्वत है । यह पर्वत पूर्व से पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ है । इसके बीच में पद्महृद् नामका एक सरोवर है ॥ ३२ ॥

इस भरतक्षेत्र में भूमण्डल का अलंकारस्वरूप एक आर्यखण्ड है । यह समस्त अंगों में उत्तमांग—मस्तक की तरह श्रेष्ठ माना गया है । यहां की भूमि समय-समय पर तीर्थंकरों के जन्म से पवित्र होती रहती है ॥ ३३ ॥

आर्यखण्ड की अलंकारस्वरूपा वह वैशाली मुक्तिरूपी अंगना की सखी के जैसी थी एवं गणतन्त्रशासन की केन्द्र थी । लिच्छविगणतन्त्रशासन के गणनायक शासक के समस्त गुणों के निधिस्वरूप राजा चेटक थे । ये सद्गुणों के श्रोता और दुर्गुणों के अश्रोता थे । ये कान्ताचरणमग्न शुद्ध निर्दोष आचार-विचार के पालन करने में मग्न होते हुए भी कान्ताचरण-मग्न—कान्ता के चरणों की सेवा में आसक्त नहीं थे अर्थात् वैषयिक भोगों की गृद्धता से विहीन थे । ये समन्तभद्र थे—चारों ओर से इन्हें कल्याण-

प्ययं न समन्तभद्रः, विनायकोऽप्ययं नाविनयिनां नायकः सविग्रहोऽप्ययं नो सविग्रहः ।

नृपतिमौलिमालाचुम्बितपादपीठस्यास्य नृपतिशेखरशिरोमणेरासन् सप्तात्मजास्त्रैलोक्यसौन्दर्यराशिस्वरूपाः मनसिजाङ्गनेव ता मूर्तिमत्यः । आस्वेका प्रणयप्रणीतिर्गतौ करिणीव प्रियकारिणी त्रिशलापरनामधेया प्रीणितपोष्यवर्गा दुर्गुणानां विदारिका दारिका । सा कुण्डलपुराधिपतिना ज्ञातृवंशावतंसेन नृपतिना सिद्धार्थेनोद्वाहिता शुभे लग्ने प्रशस्तायां तिथौ महतोत्सवेन । पतिप्राणा सा स्वस्वामिनेऽनमिने प्राणेभ्योऽपि

कारक साधनसामग्री प्राप्त होती रहती थी फिर भी ये समन्तभद्र नहीं थे तो इस विरोध का परिहार ऐसा जानना चाहिए कि किसी भी साधन सामग्री का जो कि कल्याणकारक होती थी एक क्षण भर के लिए भी अन्त—अभाव—नहीं रहता था । हर प्रकार से उस साधन सामग्री से ये भरपूर बने रहते थे । ये कुशल नायक थे—फिर भी अविनीतों के नायक—नेता—नहीं थे । ये विग्रहसहित थे—सौन्दर्योपेतशरीरवाले थे—फिर भी विग्रहवाले नहीं थे तो इस विरोध का परिहार ऐसा है कि ये सदा युद्ध से परे रहते थे ।

जिसके पादपीठ को राजाओं के मुकुट प्रतिदिन चुम्बित किया करते थे ऐसे इस नृपतिशिरोमणिरूप चेटक नरेश की सात कन्याएँ थीं । ये सौन्दर्य की राशि स्वरूप थीं, देखने में ये ऐसी प्रतीत होती थीं मानो रति की साक्षात् अवसरस्वरूप ही हैं । इनमें प्रथम पुत्री का नाम त्रिशला था । इसी का दूसरा नाम प्रियकारिणी भी था । इसकी चाल हथिनी की चाल जैसी सुहावनी थी । दुर्गुणों से यह सदा दूर रहती थी । अपने आश्रित परिचारकों को यह सदा प्रसन्न रखती थी । चेटक ने इसका विवाह ज्ञातृवंश के मुकुटस्वरूप राजा सिद्धार्थ के साथ, जो कि कुण्डलपुर के शासक थे शुभ लग्न और प्रशस्त तिथि में बड़े उत्सव के साथ कर दिया । पतिप्राणा त्रिशला अपने प्राणनाथ सिद्धार्थ को अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी हो

गरीयस्यभवत् । अतो भर्तुर्बहुमतत्वात्तस्याः प्रियकारिणीति गुणानुरूपं नामधेयं पृथिव्यां प्रथितं जातम् ।

शासितारी तस्मिन् सिद्धार्थे युवतिनारीमिव वसुमतीं वसुमतीं शासति सति नाभाविवाधोधरत्वं, आरोपितचापेष्वेवापरापकृतित्वं शातोदरीणामुदरेष्वेव नास्तित्वं, कुचेष्वेव कृष्णाननत्वं, नेत्रपक्ष्मस्वेव निपातित्वं, रम्भास्तम्भेष्वेव निःसारत्वं, भ्रमरेष्वेव गन्धापहारित्वं परं व्यवस्थितमासीन्न प्रजाजनेषु ।

गयी । नरेश का इस पर अधिक से अधिक मोह हो गया था इसीलिए वह प्रियकारिणी इस नाम से भी जगत् में विख्यात हुई ।

सिद्धार्थनरेश जब युवति नारी के समान इस भूमि का एकच्छत्र शासन कर रहे थे तब प्रजाजनों में अधोगामिता नहीं थी । यह तो केवल नाभिमण्डल में ही थी । 'दूसरों का अपकार करना', ऐसी वृत्ति भी प्रजाजनों में नहीं थी—ऐसी वृत्ति तो चढ़ाये गये धनुष में ही थी नास्तिकपना भी प्रजाजनों में नहीं था । यह तो वहां के नारीजनों के उदरों—पेटों—में ही था—क्योंकि उनका कटिभाग पतला था । प्रजाजनों में कोई भी जन काले मुखवाला नहीं था । यह तो केवल नारीजनों के कुचों के अग्रभाग में ही था क्योंकि वे काले थे । निपातपना भी वहां के प्रजाजनों में नहीं था । यह तो केवल आंखों की पलकों में ही था । निःसारता भी वहां के प्रजाजनों में नहीं थी । यह तो केवल केले के वृक्षों में ही थी । गन्ध की चोरी करना भी वहां के प्रजाजनों में नहीं था यह तो सिर्फ भ्रमरों में ही था क्योंकि वे ही गन्ध का पान किया करते हैं ।

प्रचण्डदोर्दण्डविराजितोऽसौ सुपर्वबर्गैरपि गीतकीर्तिः ।
महीं स्वकीयां करिणीं चकार स्वविक्रमैर्विक्रमशालिमुख्यः ।। ३४ ।।

राजनीत्यवतारोऽयं धर्मनीत्यनुसारतः ।
पालयन् स्वां प्रजां सर्वां धर्मतातोऽजनिष्ट सः ।। ३५ ।।

ह्रदैस्तडागैस्तटिनीतरङ्गैस्तत्पल्वलैः पल्लवितपार्श्वभागैषा वैशाली धराधरैर्वृक्षचयैश्च समन्तादुपचीयमाना स्वश्रिया जनानां मनांसि प्रीणयन्ती निलिम्पानामपि नगरीममरावतीं तृणाय मन्यते स्म । प्रभातवाताहतिकम्प्रमानोत्पलफुल्लराजिर्यत्र रसैकलुब्धानलिजालमान् स्वाङ्क

सिद्धार्थनरेश के बाहुयुगल प्रचण्ड बलशाली थे, देवता तक भी इनके यश का वर्णन किया करते थे । वे पराक्रमशाली व्यक्तियों में भी विशिष्ट पराक्रमशाली माने जाते थे । समस्त पृथिवी को इन्होंने करिणी—टैक्स देनेवाली—बना दिया था, अर्थात् विशिष्ट धनधान्य से उसे भरपूर कर दिया था ।। ३४ ।।

वे सिद्धार्थनरेश राजनीति के साक्षात् अवतार थे; परन्तु फिर भी उन्होंने धर्मनीति के अनुसार ही अपने प्रजाजनों का पालनपोषण किया अतः प्रजा उन्हें अपना धर्मपिता मानती थी ।। ३५ ।।

ह्रदों से—तडागों से—और नदियों की तरङ्गों से तथा पल्वलों से जिसका पार्श्वभाग पल्लवित—व्याप्त—शोभित हो रहा है ऐसी यह वैशाली नगरी सब ओर से पर्वतमालाओं एवं वृक्षराजियों से सुशोभा-सम्पन्न थी । यह नगरी इतनी अधिक सुहावनी एवं मनोरम थी कि देवों की नगरी अमरावती भी इसके समक्ष तृण के जैसी नगण्य प्रतीत होती थी । जहां पर प्राभातिक वायु से कम्पित कमलश्री मानो रस-लोलुपी

वातुं निषेधयन्तीव प्रतीयते । यत्राकृष्टपच्याः कलमाः पदे पदे लभ्यन्ते । क्वचित् क्वचिच्छोभन्ते च पुण्ड्रवनैरुपलक्षिता दारपोषणरतानां कृषीवलानां केदाराः । गोधनराजिविराजिता ग्रामा मोदित मानवान्तः-करणा अशरणशरण्यभूताश्चतसृषु दिक्षु वृत्या परिवृता लसन्ति । सदाचारविशिष्टशोभैः सर्वमनोकूलैः प्रकृत्याभद्रभावभरितैः श्रमपरिश्रमा-द्वातादिविकारशून्यैर्वाधिकैर्युतास्ते शुद्धघृतान्नपानसामग्र्याः सुलभत्वेनान्यपथिकेभ्यः स्पृहणीया भवन्ति ।

भ्रमररूपी विटों को—व्यभिचारियों को अपने अङ्ग का स्पर्श तक करने का निषेध करती हुई सी होती थी। इस नगरी में बिना बोये धान्य (पसाई के चावल) जगह-जगह मिलते थे। कहीं-कहीं स्त्री-बच्चों के पोषण करने में दत्तचित्त किसानों के इक्षुओं से भरे हुए खेत सुरक्षित होकर चित्त को आकृष्ट करते थे।

यहां के ग्राम गोधन से परिपूर्ण थे। इनके चारों ओर बाढ़ थी। ये ग्राम देखनेवालों के चित्त को बड़े सुहावने—लुभावने—लगते थे। जिन्हें रहने को कहीं जगह नहीं मिलती थी उन्हें यहां जगह मिल जाती थी।

यहां जो मजदूर वर्ग रहता था वह सदाचारी और हरएक व्यक्ति के अनुकूल आचार-विचार वाला था, स्वभावतः भद्र प्रकृति सम्पन्न था एवं परिश्रमी होने के कारण वातादिजन्य विकारों से रहित था। स्वस्थ शरीर—वाला था।

पथिक जनों को यहां शुद्ध घृत, अन्न पान आदि सामग्री सुलभ थी। अतः वे अन्य पथिक जनों के लिए स्पृहणीय थे।

यत्र च पदे पदे ध्वजमालालङ्कृता जिनागाराः, प्रपा, गोचरभूमयो व्रजाश्च विद्यन्ते । यत्रालिमालाध्वनिलाञ्छनेन सरोवरेषु प्रभातवाताहतिकम्पमाना सभयेव सरोजमाला "हे आर्यपुत्र ! त्वया रात्रिः कथं कुत्र व्यतीतेति" रविं प्रतिदिनं पृच्छति । पादाञ्चलस्पर्शमवाप्य हृष्टाऽम्भोजिनी मिलिन्दनाथं निशावसाने जाते सति रिरंसयाऽऽलिङ्गति । यत्र च हिमांशोर्मुदं कर्तुं वसपरागमूल्या सरोजिनी तांस्तान् नृत्यकलाविलासान् प्रभञ्जनान्नित्यं समभ्यस्यतीव भाति । यत्र च मे पादाघाहतितस्त्वयीदं कार्ष्ण्यं न आतं, किन्तु निशासपत्न्याः सहवासत इत्युक्त्वेव सरोजिनी स्वगृहात्षट्पदमङ्क्षाय निष्कासयति ।

वैशाली में जगह-जगह ध्वजाओं की पंक्तियों से अलंकृत जिनमन्दिर थे । पद-पद पर प्याऊएँ—पानी की शालाएँ—थीं । व्रज-गाय आदि जानवरों के स्थान—थे और गोचर भूमियां थीं । सरोवर भी थे । उनमें कमल खिले रहते थे । जब प्रातःकाल होता तब प्राभातिक वायु से कम्पित हुई पंकजमाला मानो भयभीत सी होकर अपने पतिदेव रवि से यों पूछा करती "हे आर्यपुत्र ! आपने रात्रि कहां और किस प्रकार व्यतीत की । रात्रि का अवसान हो जाने पर भी जहां आगत मिलिन्दनाथ के चरणों का स्पर्श पाकर मुदित हुई अंभोजिनी उसके साथ रमण करने की इच्छा से ही मानो उसका आलिङ्गन करने लगती । तथा—जहां पर अपने पतिदेव चन्द्रमा को प्रसन्न करने के लिए सरोजिनी परागरूपी मूल्य देकर वायु से उन-उन नृत्यकलारूप विलासों को सीखती रहती है तथा—जहां पर "मेरे पैरों के आघात से तुम में यह कालापन नहीं आया है, किन्तु मेरी सौत निशा के साथ सहवास करने से ही आया है" ऐसा उलाहना देकर सरोजिनी अपने घर से षट्पद—भ्रमर—को बाहर कर देती है । अपने पास नहीं आने देती है ।

यत्र च ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय प्रतिदिनं जनाः केऽपि "कोऽहं, किं च मे स्वरूप" मित्थं विचारयन्ति । केऽपि श्रुतां मुनिराजवाणीं कर्मकृपाणीं संसारजलधिसंतरणे द्रोणीमिव समभ्यस्यन्ति । कुर्वन्ति च केऽपि सद्भाव—भरावनम्रा आलोचनां दुर्भावविमोचनकारिणीं, केऽपि सामायिकं केऽपि च प्रत्याख्यानम् ।

किं च—विहारकाले विहरतां मुनीनां दिव्योपदेशान् परिपीय तत्रत्या भव्याः केचन पापाचार प्रवृत्तितः समुद्वेजिताः जैनेश्वरीं दीक्षामक्षाश्वबल-प्रसारशमनदक्षशिक्षामावाय क्लेशकर्मविपाकाशयान् संवरपूर्वकं निर्जरयितुं झटिति तपसि द्वादशविधे स्वात्मानं संलग्नं कुर्वन्ति । केचिच्छ्रावक-व्रतानि गृह्यन्ते । आद्रियन्ते च केचिन्मूलगुणाः ।

जहां पर ब्राह्ममुहूर्त में उठकर प्रतिदिन वहां के कितने ही जन "मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है" ऐसा विचार करते हैं । कितने ही जन सुनी हुई मुनिराजों की वाणी का जो कि कर्मों को काटने के लिए कृपाणी—तलवार— जैसी है और संसार रूप समुद्र से पार कराने के लिए नौका—जहाज—के तुल्य है बारम्बार अभ्यास करते हैं । कितने ही जन सद्भावों से ओतप्रोत होकर दुर्भावों को दूर करनेवाली आलोचना करते हैं । कोई कोई जन सामायिक और कोई कोई प्रत्याख्यान करते हैं ।

तथा—वहां के कितने ही भव्यजन विहारकाल में विचरण करनेवाले मुनिजनों के मुखारविन्द से निर्गत धार्मिक उपदेशों को अच्छी तरह श्रवण कर मनन कर और निदिध्यासन कर पापाचार प्रवृत्ति से भयभीत होकर मुनिदीक्षा धारण कर लेते, एवं रागद्वेषरूपी क्लेश को, ज्ञानावरणादिरूप कर्मों को और इनके विपाकाशय को संवरपूर्वक निर्जरण करने के लिए बारह प्रकार के तप तपने लगते । कितने ही जन श्रावक के बारह व्रतों को धारण कर लेते तथा कितने ही जन श्रावक के मूलगुणों का पालन करने लग जाते ।

मुनिजनविहारपूतायामस्यां वैशाल्याम्—

न तद्गृहं यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये च न सन्त्युदाराः ।
उदारता सापि विशालताढ्याः,
विशालता सापि दयानुबन्धा ।। ३६ ।।

गृहे गृहे धार्मिकभावभूषाः,
विनम्रता मूर्तिनिभाः स्वदारान् ।
स्वदारकान् किंकरवृत्तिभाजो,
जनान् जना श्राद्धवृषं ब्रुवन्ति ।। ३७ ।।

गृहे गृहे तत्र वसन्त्युदाराः,
दाराश्च ते सन्ति च दारकाङ्काः ।
ते दारकाश्चापि च कण्ठहाराः,
हाराश्च ते सन्ति च नेत्रहाराः ।। ३८ ।।

मुनिजनों के विहार से पवित्र हुई इस वैशाली नगरी में—

कोई ऐसा घर नहीं था जिसमें वृद्धजन न हो और कोई ऐसा वृद्ध भी नहीं था जो उदारता से भरा न हो। वह उदारता भी ऐसी नहीं थी जिसका क्षेत्र विशाल न हो और वह विशालता भी ऐसी नहीं थी जो सर्वजीवानुकम्पा से सनी न हो ।। ३६ ।।

घर घर में धार्मिक भाव ही जिनके आभूषण हैं ऐसे मानवरत्न निवास करते थे और वे विनम्रता की मूर्तिस्वरूप थे। वे अपनी धर्मपत्नियों को एवं अपनी सन्तानस्वरूप बाल-बच्चों को तथा परिचारकजनों को धर्म की राह पर चलने का उपदेश दिया करते थे ।। ३७ ।।

वहां प्रत्येक घर में ऐसा महिलामण्डल था जो उदारता के वरदान से विभूषित था। उनकी गोद प्यारे बाल-बच्चों से हरी भरी रहती थी। बच्चे भी उनके ऐसे थे जो उनके गले के हारस्वरूप थे अथवा जिनके कण्ठ हारों से शोभित थे ऐसे थे, तथा वे हार भी ऐसे थे जो देखनेवालों के नेत्रों को लुभाते थे ।। ३८ ।।

विशालशाला सा वैशाली स्वशोभयाऽधःकृतनाकिलोका, नभस्तलस्पर्शिसुरम्यसौधान्विता स्वां पश्यतां जनानामन्तःकरणं संभ्रान्तं विदधाति। सुधापङ्कधवलितबहिरन्तर्भागास्ते सौधाः सकलस्य सुधाप्रसूतेः सकलाः कलांशा इव प्रतिभान्ति। गवाक्षजालाङ्कितभव्यभित्तयस्ते नक्षत्रमालाङ्कितनभःप्रदेशा किमिमे इत्यारेकां जनयन्ति पथिकानां विश्रामार्थमागतानाम्। तुषारशुभ्रोज्ज्वलकुड्यसालेन बृहदाकारेणावेष्टितामिमां चतुर्बृहद्गोपुरद्वारेण पातालतलान्निर्गतोऽहीशः कंचुकावृत एव संरक्षति किं प्राकारच्छलेनेत्थंभूतामारेकां विदधती पश्यतामियं विभाति।

विशाल परकोटे से घिरी हुई उस वैशाली नगरी ने अपनी शोभा से देवताओं के निवासभूत स्वर्ग को भी तिरस्कृत कर दिया था। इसमें जो सौध—धनपतियों के निवासभवन—या राजमहल थे वे नभस्तलस्पर्शी—बहुत ऊंचे—थे और सुरम्य थे। जो एक बार भी इस नगरी को देख लेता वह चकित हो जाता। समय-समय पर इन सौधों के भीतर बाहर सफेदी होती रहती। अतः 'ये चन्द्रमण्डल के सम्पूर्ण कलांश हैं क्या ?' ऐसा प्रतीत होता था। गवाक्षों—खिड़कियों से युक्त उन सौधपंक्तियों की दीवालें बाहर से आये हुए पथिकजनों के लिए ऐसा सन्देह उत्पन्न कर देती थीं कि ये सौधों की भित्तियां नहीं हैं किन्तु नक्षत्रमाला से अंकित ये नभ प्रदेश ही हैं। उस नगरी का जो विशाल कोट था वह तुषारपात से शुभ्र बना रहता था। आकार इसका बहुत बड़ा था। उस कोट से यह नगरी घिरी हुई थी। इसके बड़े-बड़े चार द्वार थे अतः देखनेवालों को ऐसी शंका हो जाती थी कि यह कोट नहीं है किन्तु कोट के छल से इस नगरी की रक्षा पाताल से निकलकर कंचुकी से आवृत हुआ शेषनाग ही कर रहा है।

नयनाभिरामाणि धनिकानां समुन्नतानि शरदभ्रशुभ्राणि वर-भवनानि पतंगसंतापहृतये प्रयुक्तैः प्रसारितातपत्रैरिव ध्वजांशुकैर्विभान्ति, लसन्ति च यस्याम्—

सौधा मयङ्कोपललालितेलाः,
प्रोत्तुङ्गशृङ्गैः परितः परीताः ।
विधूद्गमे मुक्तपयः प्रवाहाः,
हिमालयस्येव सुखण्डमालाः ॥ ३९ ॥

लताप्रतानैः प्रततप्रसूनैर्जलोद्गमैर्यन्त्रचयैरनेकैः ।
पत्रिप्रपातोत्थचलत्तरङ्गैः कुल्याकुलैर्मन्दगतानुगाः ॥ ४० ॥

विशोभिताऽऽक्रीडचयैः सनाथाः पवित्रवृत्ताञ्चितवारवृन्दाः ।
स्वर्गप्रदेशा इव ते मनोज्ञा लसन्ति सर्वर्तुसुखाः सचित्राः ॥ ४१ ॥

वहां धनिकजनों के नयनों को लुभानेवाले श्रेष्ठ भवन थे । वे बड़े उन्नत थे । शरद्कालीन बादलों के समान वे धवल थे । उन पर ध्वजाएँ फहराती थीं । अतः देखनेवालों को ऐसा ख्याल आता था—'सूर्य के संताप के भय से ही मानो इन भवनों ने अपने ऊपर इन ध्वजाओं के बहाने से क्या छत्ते तान रखे हैं ?' यहां के इन सौधों की दीवारों में—

चन्द्रकान्तमणियां खचित थीं । इनके शिखर बड़े उन्नत थे । अतः जब रात्रि के समय चन्द्रमा का उदय होता तब इनसे पानी का प्रवाह झरने लगता । इसलिए ऐसा प्रतीत होने लगता कि ये सौध नहीं हैं, बल्कि हिमालय के खण्ड ही हैं ॥ ३९ ॥

इन सौधों में बगीचे भी थे । उन बगीचों में छोटी-छोटी बनावटी नदियां भी थीं । जगह-जगह फव्वारे लगे हुए थे । उनसे जल निकलता रहता था । जब पक्षिगण जल पीने के लिए इन कुल्याओं के पास आते और उनके पंखों की हवा से इनमें चंचल तरंगें उठतीं तब ऐसा लगता कि ये कहीं बाहर जाने के लिए मचल सी रही हैं । इन भवनों में रहनेवाली स्त्रियां पवित्र चालचलनवाली थीं । इन सौधों में सब ऋतुओं की सामग्री भरपूर थी, ये मनोज्ञ एवं पवित्र थे अतः ये स्वर्ग के प्रदेश जैसे प्रतीत होते थे ॥ ४०–४१ ॥

कमनीयकविताकामिनीकान्तकविप्रियास्तु मन्यन्ते यत्—

गृहाणि नैतान्यभितोऽचलाङ्गाः,
भवारिमालाः कृतसन्निवेशाः ।
दिदृक्षुलोकोज्ज्वलनेत्रमीनान्,
जिघृक्षयाऽतिष्ठन् यत्र तत्र ॥ ४२ ॥

चित्रार्पिताभिस्त्रिदशाङ्गनाभि–
र्मनोऽस्य नीतं विकृतेर्न मार्गम् ।
का मेऽत्र गण्येत्यवधार्य मुग्धा,
यत्राङ्गनाऽऽलिङ्गति न स्वकान्तम् ॥ ४३ ॥

लावण्यतारुण्यभरावनम्राः,
कृशाङ्गकान्ता तरलास्तरुण्यः ।
यत्र स्खलद्भिश्च पदैः प्रयान्त्यो,
वहन्ति नो भूषणभूरिभारम् ॥ ४४ ॥

कविता कामिनी के कान्त कविजन तो इस नगरी के उन सौधों को अपनी कल्पना में इस प्रकार चित्रित करते थे कि ये सौध नहीं हैं किन्तु अचल स्थिति में बैठे हुए बगुले हैं; जो कि देखनेवालों की नेत्रपंक्तिरूप मछलियों को पकड़ने के लिए इधर उधर दिखाई पड़ रहे हैं ॥ ४२ ॥

इन भवनों में रहनेवाली मुग्धा नवोढाएँ अपने प्रिय पतिदेव का आलिङ्गन इस अभिप्राय से नहीं करती हैं कि ये चित्रगत देवाङ्गनाएँ ही जब इनके मन को विकृत बनाने में असफल हो रही हैं तो फिर हमारी क्या गिनती है ? ॥ ४३ ॥

इनमें रहनेवाली तरुणियां भूषण इसलिए नहीं पहनती हैं कि जब हमसे लावण्य एवं तारुण्य का भार ही वहन नहीं होता है तो भूषणों का भार कैसे सहन हो सकेगा ? ॥ ४४ ॥

धैर्यक्षमाशीलदयाप्रमोदमाध्यस्थमैत्र्यादिगुणा अमेया ।
क्रीडन्ति यासां हृदयेऽनुरक्ता मिथो विपक्षं परिमर्दयन्तः ॥ ४५ ॥

दग्धोऽपि यन्नेत्रसुधाब्धिमध्ये-
अवगाह्य मारः खलु पंचबाणैः ।
भिनत्त्यसंस्थो हृदयं जनाना-
मनेकशो यत्र स कामुकानाम् ॥ ४६ ॥

प्रकृष्टसौन्दर्यजुषो बलिष्ठाः,
साहित्यसंगीतकलाप्रवीणाः ।
प्रमाणमेयव्यवहारविज्ञाः,
पतिप्रियास्तन्वि ! कथं न वंद्याः ॥ ४७ ॥

मितव्ययेनार्जितभूरिवित्तं,
दानप्रदाने बहुशो दधानाः ।
दाराश्च ते तन्वि ! कथं न शस्याः,
मुक्तावलीचुम्बितचारुकंठाः ॥ ४८ ॥

जिनके हृदय में परस्पर अनुरक्त हुए धैर्य, क्षमा, शील, दया, प्रमोद, माध्यस्थ एवं मैत्री आदि अनेक गुण अपने-अपने विपक्ष को मर्दित करते हुए सदा खेलते रहते हैं ॥ ४५ ॥

जिनके नेत्ररूपी अमृत समुद्र में स्नान करके मृत हुआ कामदेव भी जहां उज्जीवित होकर अपने पांचबाणों द्वारा कामुकजनों के हृदय को विदारता रहता है ॥ ४६ ॥

यहां का महिलामण्डल बलिष्ठ, सौन्दर्यसम्पन्न, साहित्य और संगीत-कला में प्रवीण, प्रमाणप्रमेयव्यवहार में निष्णात एवं पतिप्रिय था, अतः हे प्रिये ! वहां का जनमण्डल इसे पूज्य मानता था ॥ ४७ ॥

यहां का महिलामण्डल इतना अधिक व्यवहारज्ञ था कि खर्च तो परिमित करता था और दान प्रदान करने के लिए खर्च में से बचाकर रखता था एवं समय समय पर दान आदि धार्मिक कार्यों में सहायक होता रहता था। इसी कारण पुण्यप्रभाव से लभ्य मुक्तावली—मोतियों की मालाएँ—इनके सुन्दर कण्ठों को चुम्बित करती रहती थीं ॥ ४८ ॥

कचेषु कार्ष्ण्यं च कुचेषु बार्ढ्यं,
कटिप्रदेशेषु च नास्तिवादः ।
कटाक्षपातावसरेऽक्षियुग्मे,
विरागता तत्र परं न चित्ते ।। ४९ ।।

परस्परस्नेहनिबद्धचित्ताः
दग्धस्मरोज्जीवनदृष्टिपाताः ।
चेतोहरा कामकलाप्रवीणाः,
वीणास्वरास्ते च कथं न वंद्याः ।। ५० ।।

यदा च ते स्वाङ्गमनङ्गरङ्गोद्गमप्रसङ्गेन विभाव्य भग्नम् ।
जिघांसयाऽपास्तसमस्तशंका समारभन्ते कदनं स्मरेण ।। ५१ ।।

यहाँ की महिलाओं के केवल केशों में ही कृष्णता थी, केवल कुचों में ही कठिनता थी, केवल कटिप्रदेश में ही नास्तिवाद था—पतलापन था, और केवल कटाक्षपात के समय में ही विरागता—विशिष्टराग का हो जाना—था, पर इनके चित्त में कृष्णता आदि नहीं थीं ।। ४९ ।।

यहां महिलाएँ आपस में हिलमिल कर रहती थीं । इनके दृष्टिपात में इतना बल था कि दग्ध हुआ कामदेव भी जीवित हो जाता था । इनका स्वर वीणा के स्वर-समान था । चित्त को लुभानेवाली ये महिलाएँ कामकला में बड़ी प्रवीण थीं ।। ५० ।।

जब कामदेव इन्हें परास्त करने के लिए उतारु होता तो ये उसे नष्ट करने की इच्छा से उसके साथ युद्धरत हो जातीं और उसे परास्त कर देती थीं ।। ५१ ।।

मन्दक्रियान्दोलितशाटिकाञ्चलच्छलेन व्यजनं गृहीत्वा ।
रणे श्रमार्त्तान् श्लथगात्रबन्धान् तान् वीक्ष्य वातं तनुते समीरः ।। ५२ ।।

यत्र च निवसन्ति प्रतिदिशं रसिकावतंसा महोन्नतांसा दयादम त्यागमनोभिरामा रामान्विताः । येषां दुःखितदयार्द्रचित्तानां पुरुषार्थचित्तानां प्रमोदमत्तानां चतुराणां सुवृत्तानां यशसाऽभिभूतं सुकृतं दासायते ।

पादौ यदीयौ परिचुम्ब्य यत्र रजःकणैरपि महर्घ्यं सुरत्नस्थानं प्रलभ्यते । सत्यं—पुण्यात्मनां संसर्गतो यदि जघन्योऽपि मान्यतायाः पदं लभेत नाश्चर्यभूतं किञ्चिदत्र ।

जब समीर—वायुमण्डल—कामदेव के साथ हुए युद्ध से थकित शरीरवाला और शिथिल अंगोंवाला इस महिलामण्डल को देखता है तो वह अपनी मन्द-मन्द गति से इनकी शाटिका के अञ्चलरूप पंखे को हिला कर इस पर हवा करने लगता था ।। ५२ ।।

इस नगरी में प्रत्येक दिशा में अपनी-अपनी धर्मपत्नियों के साथ रसिकजनशिरोमणि महाजन जिनके स्कन्ध बलिष्ठ हैं और जिनका चित्त दया, दम एवं त्याग से सुशोभित होता रहता है, रहते हैं । गरीब दीन दुःखित प्राणियों पर जिनकी कृपा बरसती रहती है । पुरुषार्थ प्रधानी ये महाजन सदाचार से मंडित रहते हुए सदा आनन्दित रहते हैं । इनके यश के आगे पुण्य भी दास के जैसा बना रहता है ।

जिनके सुकुमार पादतलों को चुम्बित करके रजःकण भी जहां बेश—कीमती रत्नों का स्थान प्राप्त कर लेते हैं । सच है पुण्यात्माओं के संसर्ग से यदि जघन्य पदार्थ भी मान्यता का स्थान ग्रहण कर लेता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं है ।

यत्र च लब्धावकाशा जना सुदर्शनज्ञानवृत्तलब्ध्यर्थं प्रयतन्तः सन्तत्रिवर्गसंसिद्धिऋद्धिवृद्धिमन्तः शिथिलितकर्माशेषविधिप्रबन्धा भवन्ति । शिक्षयतीव येषामुरःस्थलराजितं रत्नत्रयात्मकं माल्यमन्येभ्य इभ्येभ्य इदमेव यन्न भवत्यात्मतुष्टिरन्तरा रत्नत्रयरत्नवृन्दैः ।

यत्र च हरेः किशोरका इव किशोरकाः पथ्यवीथ्यां रममाणा धूल्यालिसंधूसरितोऽपि विलोभनीयाकृतयो भवन्ति । भवति च पथिकानां वृन्दः सुन्दराङ्गानिमान् परिवीक्ष्य रजोभिराच्छादितहीरकादीनिवेमान् वाचामगोचरां संतुष्टो मुदमाप्नोति ।

यत्र स्मरो ह्येव निपातहेतुः,
प्राणान्तकः पितृपतिश्च पाप्मा ।
भयप्रदश्चातक एव याच्ञा—,
परोऽस्ति षण्ढो मन एव नान्यः ।। ५३ ।।

जब यहां के निवासीजन फुरसत में होते हैं तो वे रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करने की चर्चा करते हैं और जब वे त्रिवर्ग की सिद्धिरूप ऋद्धि की वृद्धिवाले हो जाते हैं तो अपने-अपने कर्मों के बन्धन को शिथिल करने में जुट जाते हैं। रत्नत्रयरूप रत्नमाल से सुशोभित इनका वक्षःस्थल अन्य धनिक जनों के लिए यही शिक्षा देता है कि इन बनावटी रत्नों से आत्मा की तुष्टि होने वाली नहीं है। वह तो सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नत्रय से ही होगी।

जहां की गलियों में शेरों के बच्चों के जैसे बच्चे खेला करते हैं। यद्यपि उनका शरीर उस समय धूलिधूसरित होता है तथापि उनकी आकृति चित्त को लुभाने में कसर नहीं रखती है। पथिकजन जब वहां होकर निकलते हैं तब वे रजःकण से आच्छादित हीरकादि रत्नों की तरह इन बालकों को देखकर अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करने लगते हैं।

उस नगरी में पतन का कारण यदि कोई था तो वह कामदेव ही था। प्राणों का अपहरण-कर्ता केवल यमराज ही था—, भयदाता केवल पाप ही था। याचना करने में तत्पर केवल चातक ही था तथा मन ही नपुंसक था।। ५३ ।।

द्वेषः परं मण्डलमंडलेषु,
करेणुकंठीरवयो र्विरोधः ।
मिथो विवादः प्रतिवादिवादि,
प्रवादकाले, न जनेषु तत्र ॥ ५४ ॥

यत्र च वृषभाङ्काराधका अपि जना न वृषभाङ्काराधकाः, अजितानुयायिनोऽपि नाजितानुयायिनः, अभिनन्दनपक्षपातिनोऽपि नाभिनंदन पक्षपातिनः, पद्मोपासका अपि न पद्मोपासका गृहे गृहे दरीदृश्यन्ते । किमधिकं तत्र वक्तव्यम् । विरोधकर्माकुशला अपि न विरोधकर्मकुशलास्ते ।

यदि वहां द्वेष था तो केवल कुत्तों में ही था । विरोध था तो वह सिंह और हाथी में ही था । प्रवाद-विवाद था तो वह केवल वादी और प्रतिवादियों में ही था । अन्यत्र प्रजाजनों में यह सब कुछ नहीं था ।।५४।।

ऐसे ही मानव वहां पर प्रत्येक घर में दिखाई देते थे जो वृषभाङ्क के—आदिनाथ के—आराधक होते हुए भी उनके आराधक नहीं थे—तो इसका परिहार ऐसा है कि वे वृषभाङ्क—महादेव के आराधक नहीं थे। इसी तरह अजितानुयायी—अजितनाथ प्रभु के अनुयायी होने पर भी वे अजितानुयायी—शम्भु के पक्षपाती नहीं थे । अभिनन्दन प्रभु की मान्यतावाले होने पर भी वे अभिनन्दन के पक्षपाती नहीं थे अर्थात् अपनी मान, प्रतिष्ठा, सन्मान की लालसा रखनेवाले नहीं थे । पद्मोपासक होने पर भी—पद्मप्रभ की सेवा पूजा आदि करने में रत रहने पर भी वे पद्मोपासक नहीं थे—पद्मा-लक्ष्मी की सेवा पूजा आदि को ही सब कुछ मानने—वाले नहीं थे । और अब अधिक क्या कहा जावे ? वहां के निवासी मानव—विरोधकर्म में अकुशल होने पर भी विरोध—पक्षियों को पिंजड़े आदि में रोककर रखनेरूप कार्य में कुशल नहीं थे ।

किञ्च—यस्य राज्ञः प्रचण्डदोर्दण्डभयेन पलायमानारिचमूर्न क्वचिदपि क्षणमात्रं विश्रान्तिं लेभे। यदीयैरगण्यैः कर्पूरचन्द्रोज्ज्वल-सद्गुणौघैर्भुवोऽन्तराले न ममे, अतस्तैर्मन्ये सुमनसां सदसि निवासोऽकारि। अम्भोनिधिर्यदीय गाम्भीर्यगुणं निरीक्ष्य वृद्धिक्षयव्याजेनानुमिमोमि स्वकष्टं व्यनक्ति।

महीपतेस्तस्य गुर्वीं वदान्यतामुर्व्यां विलोक्य सुराङ्घ्रिपा अपि न ज्ञायतेऽस्माद् भूतलात् कदा दृष्टिपथं व्यतीताः। किन्नरगीतकीर्तेर्यस्य भुजबलमाश्रित्य लक्ष्मीश्चापि चलेति स्वापवादं मार्ष्टुं ललनेव वश्याऽभवत्।

तस्मिन् महीमण्डलमिद्धशौर्ये,
महीपतौ शासति शासितारौ।
पक्षक्षतिर्भूधरधोरणीषु,
निकुञ्जकुञ्जेषु परागरागः॥ ५५॥

उस नरेश के प्रचण्ड बाहुबल के भय से भागी हुई शत्रु की सेना क्षणमात्र भी कहीं पर शान्ति नहीं पाती थी। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके कपूर एवं चन्द्रमण्डल के जैसे उज्ज्वल गुण जब इस भूमण्डल में नहीं समाये तब उन्हें रहने को स्थान देवों की सभा में ही मिला। नरेश के गाम्भीर्य गुण को देखकर समुद्र अब भी वृद्धि एवं क्षय के ब्याज से अपने कष्ट को स्पष्ट रूप से प्रकट करता रहता है। उस महीपाल की पृथिवी में प्रसृत गुर्वी वदान्यता—दानशीलता को देखकर कब कल्पवृक्ष इस भूतल से ओझल हो गये यह ज्ञात नहीं हो सका। किन्नर देवों के द्वारा जिसकी कीर्ति का गान किया गया है ऐसे उस नरेश के भुजबल का आश्रय पाकर "लक्ष्मी चंचला है" इस अपने अपवाद को परिमार्जित करने के लिए ही मानो ललना के समान लक्ष्मी उसके निकट स्थिर रही।

अपने शत्रुदल को शासित करनेवाले एवं विशिष्ट पराक्रमशाली उस नरेश के शासनकाल में पर्वतों में ही पक्षक्षति थी मनुष्यों में पक्षक्षति नहीं थी। सब अपने-अपने पक्ष में सबल थे। निकुञ्ज—कुञ्जों—में ही पराग था मनुष्यों में पर का अपराध करने के प्रति राग नहीं था॥ ५५॥

मदस्रुतिर्मत्तगजेन्द्रपंक्तौ,
मिलिन्दवृन्देषु च कार्ष्ण्यमुग्रम् ।
पयोधरास्ये, जघनस्थलीषु,
नखक्षते चाऽरुणिमैव यत्र ॥ ५६ ॥

पराङ्गनाऽऽलिङ्गनपापतापात् क्षयी कलङ्की शशभृन्न कोऽपि ।
सदागतिर्गन्धगुणापहारी विरूपमूर्तिश्चल एव नान्यः ॥ ५७ ॥

संदीपितेऽग्नाविव प्रबलप्रतापे यस्यास्तत्क्रोधज्वालावलीं सोढुमशक्नुवानास्तच्छासनवारिमग्नाः सन्तोऽप्यर्थमसून् वसूनि च ररक्षुः ।

मदोन्मत्त हाथियों में ही मद का बहाव था, मनुष्यों में मद–घमण्ड–नहीं था । भ्रमरों में एवं पयोधरों के अग्रभाग में ही कालापन था, मनुष्यों के रूप में कालापन नहीं था । जघनस्थली एवं नखक्षतों में ही ललाई थी, मनुष्यों में ललाई–क्रोध के आवेश में आनेवाली लालिमा नहीं आती थी ॥ ५६ ॥

परस्त्री के आलिङ्गन करने के ताप से चन्द्रमा ही क्षयीकलाओं की हीनतावाला था और कलङ्की—दोषवाला था, कोई और जन वहां दोषवाला और क्षयरोग से ग्रस्त नहीं था । गंधगुण की चोरी करने के कारण वायु ही विरूपमूर्तिवाला और चलस्वभाववाला था, प्रजाजनों में न कोई विकृत शरीरवाला था और न कोई चंचल स्वभाववाला ही था । ॥ ५७ ॥

नरेश का प्रताप अग्नि के जैसा जाज्वल्यमान रहता था, इसलिए उसके शत्रुजन उसकी क्रोधरूपी ज्वाला को सहन करने में सर्वथा असमर्थ थे, अतः वे उसके शासनरूपी जल में निमग्न रहकर ही अपने प्राणों की रक्षा और द्रव्य की सम्भाल करते रहते थे ।

सत्क्रियाचारविशुद्धबुद्धिं ह्रियाङ्कितां स्मेरमुखीं सखीजनैः सेवितपार्श्वभागां स्वप्रियां त्रिशलामसौ निधिं चक्रीव निरीक्ष्य परं सौमनस्यादात्मानं कृतकृत्यं मन्यते स्म। सापि सुभ्रूविलासलासैर्हास्यैर्मन्दस्मितैर्वर्णैश्च वसुंधराधिपस्य तस्य चित्तं हरति स्म। कामनिधानमिवास्याः कलेवरं दौवारिकाभ्यामिव तत्पृथुस्तनाभ्यां वप्रायमाणया च काञ्च्या सततं संरक्ष्यते स्म।

बिम्बाधरोष्ठोत्पललोचनश्रीः,
रंभोरुजघनस्थलमावहन्ती।
वशागतिः सिंहकटिर्नरेन्द्रं,
सा कंबुकंठी स्ववशं निनाय॥ ५८॥

इस नरेश की धर्मपत्नी त्रिशला महारानी सत्क्रियाचार से विशुद्ध बुद्धिशालिनी थी। नारी के गुणस्वरूप लज्जा से विभूषित वह सदा हँसमुख रहती, सखीजन इसकी निकटता नहीं छोड़तीं। अपनी इस प्रियपत्नी को जब नरेश देखता तो चक्रवर्ती जैसे अपनी निधियों को देखने से आनन्दित होता और अपने आपको बड़ा भाग्यशाली मानता है, उसी तरह यह नरेश भी अपने जीवन को सफल और श्रेष्ठ मानता था। त्रिशला भी अपने प्रिय पतिदेव के चित्त को सुभ्रुओं के विलासों से, हास्य से, मुसकान से एवं मनोहर वचनालापों से प्रसन्न रखती थी। त्रिशला का शरीर कामदेव का निधान जैसा था। द्वारपाल के समान दो विस्तृत वक्षोज इसकी रक्षा में सतत निरत रहते थे एवं काञ्चीदाम--परकोटे—के समान बाहरी आक्रमणों से इसे सुरक्षित रखता था।

बिम्बाफल जैसे ओष्ठोंवाली, कमल जैसे लोचनोंवाली, केले के स्तम्भ जैसे जघनस्थलवाली, सिंह की कटि जैसी कमरवाली एवं शंख जैसी ग्रीवावाली उस त्रिशला महिषी ने सिद्धार्थ नरेश की अपने ऊपर अनुपम कृपा प्राप्त कर ली थी॥ ५८॥

कचावलीचंचलचञ्चरीका,
दन्तोद्गमा विस्तृतबाहुशाखा ।
पीनस्तनश्रेष्ठफलाङ्किताङ्गा,
विभाति सा जंगमवल्लरीव ॥ ५९ ॥

विद्वत्तराप्राप्तसमस्तविद्या,
सा भूपतेः प्रीणितपोष्यवर्गा ।
श्रेयस्तराऽपास्तसमस्तदोषा,
बभूव मंत्रीव सुराज्यकार्ये ॥ ६० ॥

चन्द्रानना पत्रितचारुकुम्भ–,
स्तनाब्जग्रीवाऽस्य मनोहरन्ती ।
सा कोकिलालापनिभाल्पजल्पा,
बभूव पुण्याब्धिफला नृपस्य ॥ ६१ ॥

त्रिशला एक जंगमलता—चलती-फिरती बेल—जैसी शोभित होती थी। कचावली इस पर चंचल भ्रमर थे। दांत ही इसके पुष्प थे, विस्तृत बाहुएँ ही इसकी शाखाएँ थीं एवं पुष्ट स्तन ही इसके फल थे ॥ ५९ ॥

यह बड़ी विदुषी थी। अपने आश्रितजनों पर विशेषकर दासी-दासों पर बड़ी दयावती बनी रहती थी। स्वयं भी मंगलस्वरूप और निर्दोष थी। ॥ ६० ॥

सिद्धार्थ नरेश अपनी इस प्यारी महिषी को अपने पुण्यरूपी समुद्र के फलस्वरूप मानते थे। चन्द्रमा जैसा इसका मुखमण्डल था। चित्रित कुम्भ जैसे इसके स्तन थे, शंख जैसी इसकी ग्रीवा थी और कोकिल जैसी सुहावनी इसकी अल्पमात्रा में बोली गई वाणी थी ॥ ६१ ॥

सा शारदीयाम्बरकान्तिकान्ता,
सर्वेन्द्रियाणामभितः प्रसौख्यम् ।
समर्पयन्ती स्वविलासभावं,
रजायतास्याभिमता मृगाक्षी ।। ६२ ।।

केशेषु कार्ष्ण्यं च तनौ तनुत्व,
मधस्तनत्वं ननु नाभिबिम्बे ।
भ्रुवोश्च वक्रत्वमपि प्रयाणे,
सा मंदिमानं दधती रराज ।। ६३ ।।

यस्या उरोजौ कठिनौ न वाणी,
पादौ मृदू मन्दगति नं पाणी ।
जंघे च पीने न वपुर्यदीयं,
नेत्रे चले नैव मनो मृगाक्ष्याः ।। ६४ ।।

नरेश की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति वह महिषी किया करती थी । इसकी शारीरिक कान्ति शरदकालीन अम्बर जैसी थी । वह अपने हावभावों द्वारा अपने पतिदेव के मन को अनुरंजित करने में बड़ी दक्ष थी, इसलिए नरेश को वह बहुत ही अधिक प्यारी थी ।। ६२ ।।

यद्यपि त्रिशला के केशों में कालापन था, शरीर में तनुता थी, नाभि में अधस्तनता थी, भ्रू में वक्रता थी, और गति में मंदता थी, फिर भी वह बड़ी सुहावनी लगती थी ।। ६३ ।।

इसके दोनों उरोज ही कठिन थे, वाणी कठोर नहीं थी । चरण मृदु-कोमल थे, हाथ कोमल नहीं थे, क्योंकि दान देने से वे कठोर बन चुके थे । स्थूल—पुष्ट—जंघाएँ थीं, शरीर स्थूल नहीं था । नेत्र ही चंचल थे, मन चंचल नहीं था ।। ६४ ।।

कृष्णाः कचा नान्यगुणाश्च मन्दा,
गति र्न बुद्धि र्ननु नाभिगर्तो ।
नीचो, न वृत्तं कुटिलालकालिः,
वृत्तिर्न सद्भावविनिर्मितायाः ॥ ६५ ॥

गत्वा विसञ्जीकृतहंसवामां शीलेनाधस्कृतविष्णुवामां स्वरेणन्य-क्कृतकेकिकान्तां स्वरूपतस्तर्जितकामभामां तामवामां वामां लब्ध्वा नृपालमौलिः सिद्धार्थः स्वात्मानं सिद्धार्थं मन्यमानोऽखिलेन्द्रियग्रामसुखस्य लाभावाखंडलमपि तृणाय मन्यते स्म । ऋतमेतद्यत् पुण्यादृते नैव कदापि कस्यापि मनोरथातीतशातावाप्तिर्जायते ।

इत्थं सौख्यपयोधिमग्नमनसो नित्योत्सवानन्दिनः,
कृत्याकृत्यविचारचारुचतुरां तां शेमुषीं बिभ्रतः ।
नीत्या भ्रष्टविपक्षकक्षदहनस्यायत्तपृथ्वीभुजः
शुद्धाचारबलान्वितस्य दिवसायान्त्यस्य मोदप्रदाः ॥ ६६ ॥

इसके बालों में ही कालापन था, अन्यगुणों में नहीं । गति में ही धीमापन था, बुद्धि में नहीं । नाभिमण्डल में ही नीचे की ओर झुकाव था, चाल-चलन में नहीं । केशों की पंक्ति ही कुटिल थी, वृत्ति नहीं क्योंकि सद्भावों द्वारा ही इसका निर्माण हुआ था ॥ ६५ ॥

हंसिनी भी जिसकी गति के आगे लजाती थी । शील के आगे विष्णु की धर्मपत्नी, स्वरके आगे कोकिल और रूप सम्पत्ति के आगे कामदेवकी पत्नी रति भी फीकी लगती थी । ऐसी उस अप्रतिकूल आचरणवाली त्रिशला को पाकर नृपालमौलि सिद्धार्थ यथार्थरूप में अपने आपको सिद्धार्थ मानता था । समस्त इन्द्रियसुख उसे प्राप्त थे अतः इन्द्र को भी वह नगण्य गिनता था । सत्य है पुण्य के बिना किसी को भी मनोरथातीत सुखों का लाभ नहीं होता ।

इस प्रकार सुख सागर में मग्न हुए उस नरेश का चित्त नित्य होनेवाले धार्मिक उत्सवों से प्रमुदित रहता था । कृत्य और अकृत्य के परखने में पैनी बुद्धिवाले उस नृपालतिलक के विपक्षों के सर्वथा शान्त होजाने के कारण दिवस निश्चिन्ततापूर्वक निकलने लगे ॥ ६६ ॥

भुंक्तेऽरीन् प्रबलान् गजानिव हरिः प्रोन्मूल्य शङ्कूनिव,
वैशालीं मगधस्थितां वसुमतीं लक्ष्मीमिवार्हन् नृपः ।
तीव्रतापसुलप्तदिक्षु वसुमद्भूभृद्गणाः प्राङ्गणम्,
त्यक्त्वा नैव ययुर्विलोक्य भयतः शार्दूलविक्रीडितम् ।। ६७ ।।

यस्य ज्ञानमयीं महोदयमयीं षड्दर्शनोद्बोधिकाम्,
सद्भावैः समलङ्कृतां सुखपथप्रस्थापिकां निर्मलाम् ।
मूर्ति वीक्ष्य सरस्वती भगवती यं दारकत्वेन वै,
स्वीयाङ्के भ्यसजत् स मेऽनुपमगुणः विद्यागुरुः श्रेयसे ।। ६८ ।।

जिस प्रकार प्रबल गजों को एक अकेला सिंह दबा देता है—उन्हें नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सिद्धार्थ ने भी शंकु के जैसे अपने शत्रुओं को दबा दिया—उखाड़ दिया तथा जिस प्रकार अर्हन्तप्रभु अन्तरंग एवं बहिरंग लक्ष्मी का भोग करते हैं उसी प्रकार सिद्धार्थ नरेश ने भी मगधस्थित वैशाली का शासन किया । उस समय इनके तीव्र ताप से तप्त दिग्मण्डल में इनका शार्दूल जैसा प्रभावशाली क्रीडन देखकर भय के मारे शत्रुओं ने अपने घर का प्राङ्गण नहीं छोड़ा—अर्थात्—वे अपने अपने स्थानों को छोड़कर बाहर नहीं गये ।। ६७ ।।

जिनकी ज्ञानमयी, महोदयवती एवं सद्भावों से ओतप्रोत मूर्ति को देखकर सरस्वती ने जिन्हें अपना पुत्र माना और इसी कारण जिनके भीतर षड्दर्शनों का ज्ञान—रहस्य—उसने उंडेल दिया ऐसे वे मेरे विद्यागुरु जिनकी निर्मल मूर्ति शिष्यमण्डली को सुखकारी मार्ग पर चलने का उपदेश देती थी, (अम्बासदासशास्त्री) जिनके गुणों की अभी तक उपमा नहीं मिलती मेरे कल्याणकारी हों ।। ६८ ।।

खुशालचन्द्रजनकेन विनिर्मितेऽस्मिन्,
श्रीमूलचन्द्र—विदुषा मनवावरेण ।
आद्यो गतः स्तवक एष मनोमुदे स्यात्,
स्वर्गं गतस्य जननीजनकस्य तावत् ।। ६६ ।।

इति वर्धमानचम्पूप्रबन्धे प्रथमः स्तवकः समाप्तः

खुशालचन्द्र के पिता, मनवादेवी के पति मूलचन्द्र पण्डित के द्वारा विरचित वर्धमानचम्पूप्रबन्ध का यह प्रथम स्तवक समाप्त हुआ । दिवंगत मेरे जननी-जनक के लिए यह आनन्दकर्ता हो ।। ६६ ।।

द्वितीय स्तबक:

अन्तर्त्रिशलाजठरे न्यवसच्छुक्तौ यथा च खलु मुक्ता ।
कुर्यात् स शेमुषीं मे शुद्धां गुण्यां च वर्द्धिष्णुम् ॥१॥

यस्यावतारप्रभवप्रभावात् सिद्धार्थभूपालगृहे पपात ।
सार्धत्रिकोटीप्रमिता सुवृष्टिर्नभस्तलाद् रत्नमयी तमीडे ॥२॥

स श्रीवीरो गुणमणिधनी यो न लक्ष्याच्चचाल,
रुद्धः स्निग्धैर्जनकजननीमोहजन्यैर्वचोभिः ।
रुद्रोद्भूतैः प्रबलपरुषैस्तैश्च तैर्योपसर्गै—,
र्नोद्विग्नो यो विशदविशदां शेमुषीं विदध्यात् ॥३॥

जिस प्रकार शुक्ति में मोती रहता है उसी प्रकार वीरप्रभु भी त्रिशलामाता के गर्भ में रहे। ऐसे वे वीरप्रभु मेरी बुद्धि को पवित्र करें, एवं गुणी पुरुषों द्वारा आदरणीय बनावें तथा उसे प्रतिभाशालिनी करें ॥ १ ॥

जब प्रभु देवलोक से च्युत होकर त्रिशलामाता के गर्भ में आये तब उसके प्रभाव से सिद्धार्थ नरेश के राजमहल में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा एक-एक बार (१५ माह तक) आकाश से तीन बार हुई। ऐसे प्रभावशाली वीर प्रभु की मैं स्तुति करता हूं ॥ २ ॥

प्रभु गुणरूपी मणियों के धनी है—सच्चे जौहरी हैं। जब प्रभु राजमहल का परित्याग कर तपोवन को जाने के लिए उद्यमी हुए तब माता-पिता ने ममताभरे स्निग्ध वचनों द्वारा उन्हें समझाया—रोका, पर वे अपने लक्ष्य से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उज्जैनी नगरी के अति-मुक्तक वन में रुद्र ने इन पर भयंकर से भयंकर उपसर्ग किये, पर वे उनसे भी चलायमान नहीं हुए—अपनी तपस्या में स्थिर रहे। ऐसे वे वीरप्रभु मेरी बुद्धि को अतिविशद करें ॥ ३ ॥

अथ वैभवशालायामिव तस्यां कीर्तिमालायामिव विशालायां वैशाल्यां जगज्जनदुराशिषेव तस्मिन् कराले ग्रीष्मकाले कालक्रमेण दिवंगते तत्क्षणमेव प्रकर्षहर्षोत्कर्षोन्मत्तनिखिलप्राणिभिर्विहितस्वागत: वर्षाकाल: । प्राणनाथविरहात् पतिव्रताया इव वसन्तवियोगादुन्मनी—भूतायाः पृथिव्या: प्रभाविहीनत्वं प्रविलोक्याशावयस्या घनापदेशान्नी-लाब्जान्येव तत्प्रमोदार्थं वितेनु: । घनसं[illegible]गतविस्फुलिंगा इव निरालंबया व्योम्न: पतितानि नक्षत्राण्येवेतस्तत: खद्योतच्छद्मना तदा विविद्युतिरे । अन्यपुष्टो मौनी बभूव । दर्दुरारावैर्महीमण्डलं वर्षाकालाभिनंदनं चकार । बभार च शष्पांकुरव्याजेन क्षोणीतदागमोत्थं हर्षोत्कर्षं । कालेऽस्मिन् मुनिजनैर्निरुद्धं गमनागमनं स्वमर्यादीकृत-क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरे, विहितश्चैकत्र तत्समाप्तिपर्यन्तं स्थिरा स्वसंस्थिति: । जनताऽपि धर्मध्यानतत्परा तदा विशेषत: समजायत ।

वैभव की शाला जैसी उस वैशाली नगरी में जो कीर्तिरूप माला जैसी विशाल थी वर्षाऋतु का शुभागमन हुआ । जगज्जन के मानो दुराशीष से ही उस भयंकर ग्रीष्मकाल का कालक्रम के अनुसार अन्त हुआ । ऐसी स्थिति के होते ही समस्त जन अत्यधिक आनन्द से नाच उठे । उन्होंने हर्ष-विभोर होकर वर्षाऋतु का स्वागत किया । जब दिशारूप सखियों ने अपनी सहेली पृथिवी को प्रभाविहीन एवं वसन्त के वियोग से अनमनी देखा तो उन्होंने उसके मनोविनोद के लिए मानो नीलकमल के जैसे मेघों को आकाश में बखेर दिया । जिस प्रकार घन से ताडित होने पर अत्यन्त तप्त हुए लोहे के गोले से स्फुलिङ्ग निकलकर इधर उधर बिखर करके गिर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उस समय रात्रि में चमकती हुई जुगुनियों को देखकर ऐसा लगता था कि निरालम्ब होने के कारण ये आकाश से गिरे हुए तारे ही इधर उधर चमक रहे हैं । इस समय कोयल ने मौन धारण कर लिया । महीमण्डल ने बोलते हुए मेंढकों की ध्वनि से ही मानो वर्षाकाल का अभि-नन्दन किया । पृथ्वीमण्डल ने उद्भूत हुए दूर्वाङ्कुर के व्याज से मानो वर्षाऋतु के आगमन से उत्पन्न हुए अपने प्रकर्ष हर्ष को प्रकट किया । मुनि-जनों ने अपना विहार—स्वमर्यादीकृतक्षेत्र से क्षेत्रान्तर में आना-जाना बन्द कर दिया । एवं वर्षाकाल की समाप्ति होने तक एक ही स्थान में रहने का योग---वर्षायोग—धारण किया । जनता भी सावधान होकर धर्मध्यान करने में तत्पर हो गई ।

परस्परस्नेहनिबद्धचित्तावभिमौ ताविति धर्मकृत्यम् ।
संभूय हर्षाञ्चितकाययष्टी असेविषातां हितकाम्ययैव ।।४।।

एकस्मिन्नहनि सा त्रिशला निशायामाषाढमासस्य शुक्लायां षष्ठ्यां तिथौ हस्तनक्षत्रेण समन्वितायां स्वकीयनन्द्यावर्तनाम्नि राजभवने हंसतूल—समन्विते पर्यंके प्रमोदमग्नासती शेते स्म । सार्वर्तुकसुखावहे तस्मिन् भवने द्वयोः पार्श्वयोर्लोहिताक्षमयकिंकिणीकां तपनीयगंडोपधानकलितां सालिंगनवर्तिकामुपचितदुकूलपरिच्छिन्नां शय्यामधिशयाना निद्रावती क्षणदाया अन्तिमयामे शिवाननुदारानिमान् हितकरान् षोडशस्वप्नान् प्राभातिके मारुते वाति ददर्श । तद्यथा—करिपतिः १, वृषभः २, केशरी ३, लक्ष्मीः ४, मालायुग्मम् ५, शशाङ्कः ६, अर्यमा ७, झषयुगलम् ८, सलिल-

---

पारस्परिक स्नेह से जिनका चित्त अनुरक्त हो रहा है ऐसे उन सिद्धार्थ और त्रिशला ने भी बड़े हर्ष के साथ मांगलिक कामना से ही धार्मिक कार्यों की आराधना में एक साथ अपना योगदान दिया ।। ४ ।।

एक दिवस की बात है जब त्रिशला निश्चिंत होकर आनन्द के साथ अपने नंद्यावर्त्तनामक राजमहल में गद्दे तकिये से सुसज्जित कोमल पलंग पर सो रही थी, तब उसने रात्रि के अन्तिम पहर में सोलह स्वप्न देखे । यह दिन आसाढशुक्ला षष्ठी तिथि का था । हस्तनक्षत्र का योग था । पलंग पर फूल पड़ी थी । गद्दे के ऊपर जो आस्तरण बिछा था उसके आजू बाजू के कोनों पर मरकत मणियों की झालरें लटक रहीं थीं । तकियों की खोलियां तपनीय सुवर्ण की जैसी आभावाली थीं । नंद्यावर्त भवन सर्वऋतुओं के आनन्द को देनेवाला था । स्वप्नावलोकन के समय त्रिशला गहरी नींद में नहीं सो रही थी । अल्प निद्रावती थी ।

वे स्वप्न इस प्रकार हैं—(१) गजराज, (२) बैल, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) दो माला, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) दो मछलियां,

सरितः सौवर्णिकः कुंभः ९, तडागः १०, समुद्रः ११, हर्यासनम् १२, देवविमानम् १३, धरणेन्द्रभवनम् १४, रत्नराशिः १५, धूमविवर्जितो धूमध्वजश्च १६ ।

तदनन्तरं पूर्वदिशि रक्ताशोकपर्णाभा संध्योदगात् । पश्चिमाशे हताशे ! त्वय्यनुरागादेवाहं यावत्सक्तं रविसुतविरहिता बभूवेत्थं शुक—शावकाद्यारावच्छद्मना पुरन्दराशा तामुपालंभं दातुमिव कोपारुणा संजाता ।

आविरासीद् रवी राशिं तमसः स्वोत्करैः करैः ।
धुन्वन्, भासयन् विषयान् काष्ठा अष्ट प्रकाशयन् ॥५॥

---

(९) जल से भरा हुआ सुवर्ण कलश, (१०) तालाब, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव विमान, (१४) धरणेन्द्र भवन, (१५) रत्न-राशि और (१६) निर्धूम अग्नि ।

इसके बाद पूर्व दिशा में रक्त अशोक के पत्र के वर्ण जैसी संध्या प्रकट हुई । "मेरी आशाओं पर पानी फेर देनेवाली हे पश्चिम दिशा ! तूने मेरे बेटे को अपने ऊपर अनुराग सम्पन्न कर अपने पास रखा लिया, अतः मैं अपने प्यारे—लाडले—लाल से रात भर विरहित रही" ऐसा उलाहना शुक शावक आदि परिन्दों की चहचहाहट के छल से मानो पश्चिम दिशा को देने के लिए ही पूर्व दिशा क्रोध के आवेश से लाल हो गई ।

अपनी तीक्ष्णकिरणों से अंधेरे को चकनाचूर करते हुए घटपटादि पदार्थों को प्रकाशित करते हुए और आठों दिशाओं के मुख को उज्ज्वल करते हुए सूर्य का उदय हुआ ॥ ५ ॥

भाति [illegible] तद्वत् प्राचीदिग्नवोढारक्तकञ्चुकः ।
अथवा तद्गृहस्यायं विद्युद्दीपो महोज्ज्वलः ॥६॥

कश्चिद्वाकाशगंगाया सप्तर्षीणां कराच्च्युतः ।
पङ्कजः पतितो मेघपथस्य पथि भास्करः ॥७॥

यद्वायं व्योमरामाया अभिरामोऽस्ति कंदुकः ।
दिशासीमन्तिनीसीमन्तस्य सिन्दूरपिण्डिका ॥८॥

अब्जकारागृहे तस्या ये क्षिप्तास्छविचौर्यतः ।
राज्ञा मुक्ता मिलिन्दास्ते तं स्तुवन्तीह झंकृतैः ॥९॥

अपनी आभा से सूर्य ऐसा प्रतीत होता था मानो वह पूर्व दिशा रूपी नवेली नारी की लालरंग की ओढने की चूनरी ही है या उसके भवन का वह १००० वाट का बिजली का बल्ब ही है ॥ ६ ॥

अथवा—सप्तर्षियों के हाथ से आकाशमार्ग में गिरा हुआ यह कान्तिमान आकाशगंगा का कमल ही है ॥ ७ ॥

अथवा—आकाशरूपी नायिका की खेलने की गेन्द है ? या दिशारूपी सीमन्तिनी की मांग भरने की सिन्दूर की डिबिया है ॥ ८ ॥

अपनी कान्ति की चोरी करने के कारण रात्रिरूपी नायिका ने भौंरों को कमलरूपी कारागृह में रातभर बन्द रखा, अब सूर्य के उदय होने पर वे उस कारागृह से मुक्त होकर मानो अपने मुक्तिदाता सूर्य की भनभनाहट के छल से स्तुति करने में तल्लीन हो गये हैं ॥ ९ ॥

पंकजा ये प्रसुप्तास्तेऽधुना बुद्धा इवानतिम् ।
प्रकम्पिताः समीरेण कुर्वन्तीह स्वबन्धवे ॥१०॥

वराकीयं चकोरी वानाथा रात्रिमसेवत ।
तज्जन्यमहसा सैषा प्रातः स्वेशं समाप द्राक् ॥११॥

महिषीयं हरेराशा वारुणीं प्रति शासती ।
स्वसौभाग्यमनौपम्यं वक्ति रव्युदयच्छलात् ॥ १२ ॥

वारुणीं भजतः कस्य पतनं नाभवद्भुवि ।
शिक्षामिमां विधातुं हि रविरुदयमागतः ॥ १३ ॥

जो कमल तालाब में सूर्यास्त के बाद मुकलित हो गये थे वे अब सूर्योदय होने पर खिल गये हैं और मन्द मन्द मलयानिल से वे प्रकम्पित हो रहे हैं इससे ऐसा आभास होता है कि मानो वे अपने बन्धुरूपी सूर्य को नमस्कार ही कर रहे हैं ॥ १० ॥

बिना नाथ की हुई इस चकोरी ने रात्रि की सेवा करने से जो पुण्य कमाया उसी का उसे यह फल मिला कि सूर्योदय होते ही उसे अपने प्राणनाथ का प्यार मिल गया ॥ ११ ॥

यह पूर्व दिशा जो कि इन्द्र की महिषी है—रवि के उदय के बहाने से—मिस से—मानो वारुणी दिशा से—पश्चिम दिशा से अपना असाधारण सौभाग्य ही प्रकट कर रही है ॥ १२ ॥

"जिन्होंने वारुणी—शराब या पश्चिम दिशा की सेवा की उनमें से इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति बचा है जिसका पतन नहीं हुआ हो" मानो जगज्जन को ऐसी ही शिक्षा देने के लिए जब सूर्य उदित हुआ ॥ १३ ॥

दिवानाथेन मे पत्नी निशा नीता दिवं हहा !
तद्विनाऽहं कथं प्राणान् वधे चास्तंगतः शशी ।। १४ ।।

अच्छपुष्पावकीर्णे च नभस्तल्पे महत्तरे ।
शशितम्योरभूत् केलिम्लानास्ताराश्च मर्दनात् ।।१५।।

कैरवाणां कुलं जातमधुनेन्दुवियोगतः ।
विनिद्रितं, न तद्भाति गृहीतं किन्तु मूर्च्छया ।।१६।।

सरोजानां प्रमोदोऽभूत् स्वबन्धोरवलोकनात् ।
रीतिः सांसारिकी ह्येषा कस्य न स्वजनः प्रियः ।।१७।।

तब चन्द्रमण्डल मानो इस ख्याल से ही अस्तंगत हो गया कि जब सूर्य ने मेरी पत्नी रात्रि को ही विनष्ट कर दिया है तो अब उसके बिना मेरा जीना भी असम्भव है ।। १४ ।।

आकाशरूपी विस्तृत पलंग पर पर जिस पर तारिकावली रूपी फूलों की सेज बिछी हुई थी, चन्द्रमण्डल और रात्रि दोनों ने कामक्रीड़ा की अतः उनके संमर्दन से ही मानो तारिकावलीरूपी पुष्प भी म्लान हो गये ।।१५।।

उधर रात्रिविकासी कैरवों का समूह भी अपने स्वामी चन्द्रबिम्ब के वियोग से मुकलित हो गया, वह देखनेवालों को ऐसा प्रतीत होता था मानो उसे मूर्च्छा ने ही धर दबाया हो ।। १६ ।।

इधर कमलों को अपने बन्धु–सूर्य के दर्शन होते ही महान् हर्ष हुआ अर्थात् वे खिल गये । संसार की रीति भी ऐसी ही है कि अपने इष्ट बन्धु के अवलोकन से आनन्द का सागर हिलोरें लेने लग जाता है ।। १७ ।।

अक्ष्णोः पक्ष्म समुद्घाट्य प्रभातमाकलय्य च ।
समुत्सृज्य प्रियाङ्कं च पल्यङ्कं विजहुर्जनाः ॥१८॥

सहस्रकरमालिनि भगवति भास्करे उदयाचलशिखरमधिरूढे सति—

तावन्महीपालकमन्दिराग्रे,
प्राबोधिकाः पेठरुपेत्य गीतिम् ।
मनोज्ञकंठध्वनिभिर्गभीरैः,
प्रबोधनार्थं सुमतेर्महिष्याः ॥१९॥

विभावरी देवि ! गताऽऽगता वा,
प्रभातवेला, त्वमिहोत्थितास्याः ।
निद्रां च तन्द्रां परिमुच्य शय्यां,
प्रभातकृत्यं चर चारुनेत्रे ॥२०॥

मानव समाज ने जब आंखों की पलकों को खोलकर देखा कि प्रातः काल हो गया है तो उन्होंने उसी समय अपनी प्रिया के अङ्क को और पलंग को एक साथ छोड़ दिया ॥ १८ ॥

इतने में सहस्र किरणावलि परिमण्डित सूर्य-मण्डल उदयाचल पर्वत पर उदित हो गया ।

सूर्य के उदित होते ही स्तुतिपाठकजन राजमन्दिर के प्राङ्गण में आकर उपस्थित हो गये और मनोमुग्ध करनेवाली कंठध्वनि से मनोरंजक गीतों के द्वारा सुमतिशालिनी महिषी त्रिशला को जगाने लगे ॥ १९ ॥

हे देवि ! रात्रि समाप्त हो चुकी है, प्रभात का समय हो गया है। अब आप उठिये और निद्रा एवं तन्द्रा का परिहार कर शय्या का परित्याग कर दीजिये । हे चारुनेत्रे ! यह समय प्राभातिक क्रियाओं के करने का है अतः उन्हें कीजिये ॥ २० ॥

द्वारिस्थितां भाविरविप्रतापात्,
त्रस्तां शरण्ये ! शरणार्थिनीयम् ।
विरौति संध्या कलहंसनादैः,
कपाटमुद्घाट्य वीक्ष्य चैनाम् ।।२१।।

कलङ्कमुक्तं मुखचन्द्रबिम्बं,
निरीक्ष्य सैणाङ्कमयङ्कबिम्बात् ।
श्रीर्निर्गताऽऽश्रयणाय नूनं,
करोति याञ्चामुररीकुरुष्व ।।२२।।

कुमुद्वतीं कान्तवियोगतान्तां,
सतीव्रतं पालयितुं प्रवृत्ताम् ।
संध्यारुणाग्नौ विशतीं विमुग्धां,
विलोकयैनां दलशुभ्रवस्त्राम् ।।२३।।

हे शरण्ये ! यह संध्या धीरे-धीरे तीक्ष्ण किरणों से तपनेवाले सूर्य के आताप से डर कर आपकी शरण में शरणार्थिनी बनकर आयी है और यह आपके महल के द्वार पर खड़ी हुई कलहंसों की चहचहाहट के छल से मानो रो रही है । अतः आप शयन कक्ष के कपाट खोलकर इसे देखें ।।२१।।

हे देवि ! कलङ्कविहीन आपके मुखचन्द्र को लक्ष्मी सकलंक चन्द्र-बिम्ब से निकल कर आपका सहारा लेने के लिए प्रार्थना कर रही है, अतः आप उसकी प्रार्थना स्वीकार करें ।। २२ ।।

हे देवि ! देखो कान्त के वियोग से दुःखित हुई—बिलकुल मुरझाई हुई यह कुमुद्वती सतीव्रत को पालन करने के लिए कमलपत्ररूप शुभ्रवस्त्रों को धारण कर कटिबद्ध हो रही है । अतः संध्याकालीन लालिमा रूपी अग्नि में प्रवेश करती हुई इसे आप देखें ।। २३ ।।

भ्रमन्मिलिन्द ध्वनिनाऽवगम्य,
मृणालिनीं फुल्लमुखारविन्दाम् ।
रवेः प्रियस्यागमनं सरोऽप्य,
नेतुं गतां पश्य नु पाद्यमंभः ।। २४ ।।

सा पद्मिनी पद्मपुटे विधृत्य,
परागरागं ह्यलिने ददाति ।
पतिव्रताः स्वेष्टसमागमेन,
कुर्वन्ति राजीवमुखे नु दानम् ।। २५ ।।

अहो ! प्राभातिकोऽयं कालः कियानस्ति सुरम्यो यस्मिन् प्रणिद्रया श्रान्तं ज्ञानं स्वस्थं प्रजायते । कर्णानन्दप्रदः शकुन्तानां रवो दिशि दिशि श्रूयते । अतः प्रतीयते तच्छलात्ते परस्परं रात्रिसुखासिकां पृच्छन्ति । वृक्षाद्वृक्षान्तरेषु तेषां समुत्पतनात् तावदिदमेवानुमीयते यदेते निशायां विमुक्तानामात्मीयानां मार्गणां कुर्वन्ति ।

हे देवि ! यह मृणालिनी—कमलिनी गुंजार करते हुए भ्रमरों की ध्वनि से यह जानकर कि मेरे प्राणनाथ आ गये हैं, प्रसन्नचित्त होकर उनके स्वागतार्थ पादोदक लेने के लिए तालाब पर जा रही है, इसे आप देखें । ।। २४ ।।

हे देवि ! देखिये यह पद्मिनीपद्मपत्र के दोने में पराग—राग को भरकर भ्रमर को दे रही है । ठीक ही है—जो पतिव्रता होती हैं वे अपने इष्ट—पतिदेव—के समागम से प्रसन्न होकर दान करती ही हैं ।। २५ ।।

अहो ! देखो यह प्रभात का समय कितना अधिक सुहावना है जिसमें निद्रा से श्रान्त हुआ ज्ञान स्वस्थ हो जाता है । प्रत्येक दिशा में कर्ण को आनन्द विभोर बना देनेवाला पक्षियों का कलरव सुनने में आ रहा है । इससे तो यही समझ में आता है कि ये पक्षिगण आपस में मानो एक दूसरे की सुखासिका ही पूछ रहे हों । एक वृक्ष से दूसरे-दूसरे अन्य वृक्षों पर जो जाकर वे फुदकते फिर रहे हैं मानो ये रात्रि में बिछुड़े हुए आत्मीयजनों की खोज करने में लगे हुए हों ।

रात्रौ निस्तब्धताऽरण्ये याऽऽसीत्सा क्वाधुना गता ।
तस्या अन्वेषणार्थेव भ्रम्यते पशुभिः मृगे ।। २६ ।।

अरविन्ददलस्थानां बिन्दूनां निपाततः ।
प्रदीयते मिलित्वैते सूर्याय सलिलाञ्जलिः ।। २७ ।।

रजन्यां यन्न प्रत्येति नयनैस्तमसाऽऽवृतम् ।
प्रातःकाले समायाते तत्स्पष्टं वस्तु बुध्यते ।। २८ ।।

कोकः शोकं त्यक्त्वा कान्तां स्वीयां भृशं समाश्लिष्य ।
वदनारविन्दमधुना चुम्बति तस्या मुदा बहुशः ।। २९ ।।

पशुजगत् जंगल की ओर जाने के लिए अपने-अपने स्थान से मानो इस बात की तलाश के लिए ही निकला कि रात्रि में जो जंगल में निस्तब्धता थी वह अब वहां से कहीं और चली गयी हो ।। २६ ।।

कमलपत्तों पर रात्रि में जो ओस की बूंदें थीं वे अब प्रातः होते ही गिरने लगी हैं इससे ऐसा भान होता है कि मानो ये सब मिलकर सूर्यदेव को जलाञ्जलि ही दे रही हों ।। २७ ।।

रात्रि में अन्धकार के कारण जो वस्तु नेत्रों से स्पष्ट नहीं दिखती थी, वह अब प्रातः काल होते ही स्पष्ट नजर आने लगी है ।। २८ ।।

रात्रि में कोक पक्षी—चकोर चकोरी के वियोग से जो शोक में डूबा हुआ था, वह अब प्रातः होते ही देखो, अपनी बिछुड़ी हुई कान्ता—चकोरी—का आलिङ्गन कर उसके मुखकमल को बारम्बार चूम रहा है ।। २९ ।।

इत्यादिप्राबोधिकपद्यालापैर्वाद्यनिनादैश्च स्वप्नावलोकनेन प्रबुद्ध—पूर्वाऽपि सा प्रबुद्धा आसीत्। प्राभातिकं कृत्यमसौ विधाय प्रकर्षहर्षाञ्चित गात्रयष्टिर्दृष्टस्य स्वप्नस्योदन्तं किमिति विज्ञातुं विभोस्तोर्यमेव गन्तुम्। विहितप्रत्यूषकृत्याय नृपतिगणतिलकाय सिद्धार्थमनोरथाय सिद्धार्थाय स्वस्वामिने अभ्यग्रमभ्युपेत्य तेन प्रदत्तमर्धासनं सनिविष्टेयं पृष्टा सती स्वप्नोदन्तं जिज्ञासमाना निवेदयामास। तथा—

नयेन नीति विनयेन विद्या,
ज्ञानं च दृष्ट्या रमयेव विष्णुः।
पुष्पश्रिया वा विटपीव तत्र,
तयाऽप्यसौ तेन च सा विरेजे॥ ३०॥

इत्यादि रूप पद्यालापों से एवं वादित्रों के निनादों से उन प्राबोधिकों ने रानी को जगाया। यद्यपि वह स्वप्नों के देखने से पहले से ही जगी हुई थी पर ऐसा आचार है कि भाट लोग राजा-रानीको प्रातःकाल में उनकी विरुदावली बखानते हुए एवं प्रकृति की निराली शोभा की प्रशंसा करते हुए जगाते हैं। रानी ने उठकर प्राभातिक सब क्रियाएँ की। क्रियाओं को करके वह शुद्ध सुहावने कीमती वस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने पतिदेव के निकट पहुँची। हर्ष के प्रकर्ष से जिसका शरीर रोमाञ्चित हो रहा है ऐसी वह प्रियकारिणी त्रिशला जब नरेश के पास जा रही थी तब नरेश ने उसे आती हुई देखा था। उसके आते ही नृपतिगण के तिलकभूत सिद्धार्थ नरेश ने जिनके कि मनोरथ फलीभूत होने जा रहे थे उसे उठकर अपने आधे सिंहासन पर बैठाया। राजा ने ज्यों ही आने का कारण पूछा रानी ने दृष्ट स्वप्नों के फल को जानने के लिए निवेदन किया। उस समय जब ये दोनों दम्पती राजसिंहासन पर आसीन थे आपस में ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे नय से नीति, विनय से विद्या, सम्यग्दर्शन से ज्ञान, लक्ष्मी से विष्णु और पुष्पश्री से वृक्ष परस्पर सुशोभित होते हैं॥ ३०॥

तयेत्थं प्रोक्तम्—

दृष्टा षोडश स्वप्नाः सुत्रामविभवार्यपुत्र ! खलु सम्प्राः ।
पश्चिमयामे, तेषां फलं किमस्तीति वक्तव्यम् ।। २१ ।।

इत्थं तदीयचेतसि स्वप्नानां फलं विज्ञातुं जायमानां बलवतीमुत्कंठां विज्ञाय प्रमुदित मनसासिद्धार्थेन सादरं भणितम्—के ते स्वप्ना देवि ! निशीथिन्याः पश्चिमे प्रहरे त्वया दृष्टाः । ब्रूहि—इत्थं पृष्टा सा वामपार्श्वभागे विनिविष्टा स्वमधुरवाचाऽवदत्–स्वामिन् ! ते चेमे । इत्थं तया स्वभर्तुः सविधे सर्वेऽपि स्वप्नाः प्रकाशिता गजपतिवृषभादयः ।

उसने ऐसा कहा—

हे नाथ ! मैंने आज रात्रि के पश्चिम प्रहर में १६ स्वप्न देखें हैं, सो हे इन्द्र के तुल्य वैभवशालिन् आर्यपुत्र ! इनका फल क्या है ? इसे आप स्पष्ट कीजिये ।। २१ ।।

इस प्रकार त्रिशला महारानी के चित्त में दृष्ट स्वप्नों का फल जानने की बलवती उत्कंठा जगी । इसके बाद बड़े ही आदर के साथ प्रमुदित मन होकर सिद्धार्थ ने कहा—देवि ! कहो वे स्वप्न क्या हैं ? जिन्हें आपने रात्रि के पिछले प्रहर में देखा है । इस प्रकार नरेश के द्वारा पूछे जाने पर वामभाग की ओर बैठी हुई त्रिशला ने मधुर वाणी से कहा—स्वामिन् ! वे देखे गये स्वप्न ये हैं । इस प्रकार त्रिशला ने अपने पतिदेव के निकट देखे गये वे गजराज, वृषभ आदि के समस्त स्वप्न प्रकाशित कर दिये ।

निशम्य तान् निखलान् नृपेण सिद्धार्थेन निमित्तशास्त्रविशारदेन मुक्ताफलसमद्युतिरदेन पूर्वं तत्फलं चेतसि विनिश्चित्य प्रसन्नमनसा पश्चादित्थमभिहितम्—

देवि ! त्वमसि परमसौभाग्यशालिनी यत् सौभाग्यसौन्दर्यशालिनो बलिष्ठस्य सातिशयज्ञानसमन्वितस्य तेजस्विनामग्रसरस्य महागुणिनो यशस्विनो जगदुद्धारकस्य तद्भवसकलकर्ममलकलङ्क विनाशरूपमुक्ति-कान्ता-कान्तस्य सुतस्य जननी भविष्यसि। अधुना स त्वदीयोदरेऽवतीर्णः। एतद्वृत्तस्य संसूचकाः स्वप्ना देवि ! त्वयेमे दृष्टाः। यतो हि—"अस्वप्न-पूर्वं हि जीवानां नहि जातु शुभाशुभम्" इति। अस्मद्भवनमिदमचिरेण परमसौभाग्यशालिनाऽनपवर्त्यायुष्केण जीवेन समलंकृतं भविष्यति। इत्थं हृद्यानन्दवृत्तं विचिन्त्य श्रुत्वा च सिद्धार्थस्तत्पत्नीचेति द्वावपि हर्षोत्कर्षस्य परां काष्ठां जग्मतुः। कस्मिन् मंगलमयेऽहनि तज्जन्म भविष्यति, कदा आवयोः पुत्राननावलोकनसमीहा पूर्णतां प्राप्स्यति, कदा

सिद्धार्थ नरेश निमित्तशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। अतः उन स्वप्नों को सुनकर और उनका फल पहिले अपने आप में निश्चित कर बाद में बड़े आनन्द के साथ मुसकाते हुए उन्होंने रानीसे कहा– देवि ! तुम बड़ी सौभाग्यशालिनी हो जो अत्यन्त सौभाग्य एवं सौन्दर्य से सर्वोत्कृष्ट, बलिष्ठ, तेजस्वी, यशस्वी, संसारोद्धारक एवं सकलकर्ममलकलङ्क के विनाशरूप मुक्ति कान्ता का पति तद्भवमोक्षगामी ऐसे पुत्र की माता होनेवाली हो। इस समय वह तुम्हारे उदर में अवतीर्ण हो चुका है। इसी वृत्तान्त की सूचना देनेवाले ये सोलह स्वप्न हे देवि ! तुमने देखे हैं। स्वप्न जीवों के शुभ और अशुभ के सूचक होते हैं। हे देवि ! बहुत शीघ्र ही हमारा यह भवन परम सौभाग्यशाली एवं अनपवर्त्य आयुवाले जीव से जगमगाने वाला है। इस प्रकार के विचार से वे दोनों दम्पती हर्ष से उत्कर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए, और इस प्रकार की प्रतीक्षा में तन्मय होकर ऐसा विचार करने लगे—किस मंगलमय दिवस में उसका जन्म होगा ? कब पुत्र का मुख देखने की हम लोगों की वाञ्छा सफल होगी ? और कब

च तज्जन्मजायमानमहोत्सवतः सफलं स्वजन्मावां विधास्याव: प्रतीक्षामित्थं क्रियमाणौ तौ दम्पती स्व समयमनयताम् ।

एतेषु सर्वेषु मांगलिकक्षणेषु निलिम्पैर्मिलित्वा सिद्धार्थराजभवने महानुत्सवोऽकारि । तद्दिवसमारभ्यैव षट्पंचाशत्कुमारिका देव्यस्त्रि-शलायाः शुश्रूषां विधातुं नियुक्ता जाताः । आभिः सर्वाभिर्यथानियोगं गर्भावस्थायां तस्याः सुष्ठुतया परिचर्या विहिताऽहमहमिकया । चिरकालेन नियुक्ता परिचिता प्रियंवदा त्रिशलाचेटी तत्सुखसुविधाविधौ स्वीयं पूर्णयोगं सावधाना सत्यवात् । अतः स्वस्वामिन्याः प्रभुमातुः किञ्चिदपि शारीरिकं मानसिकं च कृच्छ्रं नाऽभूत । तथा विविधैर्मनोरंजकैरुपायैः सा तस्याः समाराधनतत्परा बभूव । अतस्तस्यै कश्चिदपि खेदलेशो नाजायत ।

उसके जन्मसमय के होनेवाले महोत्सव से हम लोग अपने जन्म को सफल मानेंगे ?

इन समस्त मांगलिक क्षणों में देवों ने मिलकर सिद्धार्थराजा के राजभवन में बहुत बड़ा उत्सव किया । उस दिन से ही देवी त्रिशला की शुश्रूषा करने में छप्पन कुमारी देवियां नियुक्त हो गईं । इन सब ने अपने अपने नियोग के अनुसार गर्भावस्था में उस त्रिशला माता की बहुत अच्छी तरह परिचर्या की । त्रिशला की एक चेटी थी जो बहुत पुरानी थी । उसका नाम प्रियंवदा था । यह त्रिशला की सुख-सुविधा का बहुत अधिक ध्यान रखती थी । इसकी वजह से प्रभु की माता को शारीरिक एवं मानसिक जरा सा भी कष्ट नहीं हो पाता था । वह विविध प्रकार के मनोरंजक साधनों से अपनी स्वामिनी की सेवा करने में सर्वदा कटिबद्ध रहा करती थी । अतः माता को किंचित् मात्र खेद नहीं हो पाता था ।

सेवाधर्मः परमगहनः सत्यमेतत्तथापि,
देव्यश्चक्रुर्मुदितमनसा तीर्थकृत्पुण्ययोगात् ।
मातुः सेवामतिसुखकरीं वृत्तिरिक्तां स्वयोग्याम्,
धन्यस्तेषां भवति स भवो देवसेव्यो भवेद् यः ॥ ३२ ॥

सा शारदीयाम्बरतुल्यकान्तिः,
वपुःप्रभान्यक्कृतराजहंसी ।
चकास राकेव च चन्द्रपूर्णा,
स्वमंदिरेऽलक्तकशोभिपादा ॥ ३३ ॥

देहप्रभामण्डलमण्डनैः सा,
विराजमाना त्रिशला रराज ।
तपात्यये निर्झरशीकरैर्वा
संसिच्यमानाभिनवा धरित्री ॥ ३४ ॥

यह बात सत्य है कि सेवाधर्म परम गहन है। फिर भी तीर्थंकर पुण्य प्रकृति के प्रभाव से उन की माता की सेवा प्रसन्नचित्त होकर देवियों ने की। माता को उनकी सेवा से बहुत सुख मिलता था। यह सेवा बिना वेतन की थी। वह जन्म धन्य है कि जो देवसेव्य होता है ॥ ३२ ॥

शरदकालीन मेघ के समान जिसके शरीर की प्रभा है और इस प्रभा के आगे राजहँसी भी तिरस्कृत हो जाती है ऐसी वह त्रिशला जिसके दोनों चरण अलक्तक—महावर—से सुशोभित होते रहते हैं अपने राजमन्दिर में पूर्णचन्द्रमण्डलवाली पूर्णिमा के जैसी शोभित होती थी ॥ ३३ ॥

ग्रीष्मकाल के व्यतीत होजाने पर निर्झरों के शीकरों से सिञ्चित हुई नवीन भूमि जिस प्रकार शोभित होती है, उसी प्रकार देह की प्रभारूप मण्डनों से विभूषित हुई वह कमलनयनी त्रिशला सुशोभित हुई ॥ ३४ ॥

प्रभामहत्या शिखयेव दीपः,
रत्नत्रयेणाथ च मुक्तिमार्गः ।
अनर्घ्यहारावलिभिश्च कंठो,
गर्भेण सा स्वस्तिमती रराज ।। ३५ ।।

लावण्यमंगे स्फुरितं तदीये,
मणिप्रभावं द्विगुणं रराज ।
सार्धं विभूत्या महतां प्रभावो,
वाच्या न वाच्यः खलु कोप्यपूर्वः ।। ३६ ।।

सा संस्थिता यौवनमंदिरेऽन्तः,
सौभाग्यभूतेः परिवर्द्धनार्थम् ।
धर्मोक्तविद्यां सततं वयस्या-,
मिवाङ्गसंगीमुररीचकार ।। ३७ ।।

वह स्वस्तिमती त्रिशला जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रभावाली शिखा से दीपक शोभित होता है, रत्नत्रय से मुक्तिमार्ग शोभित होता है एवं अनर्घ्य हारावलि से कण्ठशोभित होता है उसी प्रकार गर्भ से शोभित हुई ।। ३५ ।।

त्रिशला की रगरग में लावण्य मणि में प्रभा के जैसा द्विगुणित होकर चमक रहा था । गर्भ के प्रभाव से विभूति भी उसकी असाधारण हो चली । सच तो यह है कि महापुरुषों का प्रभाव कोई अपूर्व ही होता है । वह शब्दों द्वारा प्रकट करने में नहीं आता ।। ३६ ।।

यौवनरूप मन्दिर के अन्दर स्थित हुई त्रिशला ने अपने सौभाग्यरूप वैभव के परिवर्द्धन निमित्त सखी के समान धार्मिक ज्ञान को अपना साथी बनाया ।। ३७ ।।

तस्याः क्रियाचारविशुद्धबुद्धेः,
बभूव सौन्दर्यमणेः करण्डम् ।
गात्रं पवित्रं द्युसदङ्गनाभिः,
सुरक्षितं तत् तनुसाधनौघैः ॥ ३८ ॥

वंशावतंसाऽपि महोन्नतांसा कर्णावतंसाऽजनि सा स्वभर्तुः ।
सत्यं हि सौभाग्यनिधिर्जनेन नैवाप्यते पुण्यविभूत्यभावे ॥ ३९ ॥

अथ सा त्रिशला राज्ञी गर्भं दधाना गभीरमर्थं भारतीव, शार्दूलपोतं गिरिगुहेव, सूर्यगर्भा पौरंदरी दिगिव, मणिमण्डलाढ्या वार्धिवेलेव, च रराज । नाभवत्तस्या उदरं वृद्धिमत् । नाभूतां स्तनौ कृष्णास्य युतौ । त्रिवल्यभंगुरं तनूदरं तथैवास्थात् । वदनेऽपि नागच्छत्पाण्डुरता । नास्थात्

क्रियारूप आचरण से जिसकी बुद्धि विशुद्ध बनी हुई है ऐसी उस त्रिशला महारानी का पवित्र शरीर सौन्दर्यरूप मणि का पिटारा था—खजाना था । उसकी रक्षा भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा देवाङ्गनाएँ करती रहती थीं ॥ ३८ ॥

उन्नत स्कन्धवाली वह त्रिशला महारानी राजा सिद्धार्थ के वंश की मण्डनस्वरूप थी; पर फिर भी नरेश उसे अपने कर्ण का आभूषण जैसा मानता था । सत्य तो यही है कि पुण्यरूप विभूति के अभाव में मानव को सौभाग्यरूप निधि की प्राप्ति नहीं हुआ करती है ॥ ३९ ॥

गर्भ को धारण करती हुई वह त्रिशला गम्भीर अर्थ को धारण करनेवाली भारती की तरह, शार्दूल के बच्चे को धारण करनेवाली गिरि की गुफा की तरह, सूर्य को धारण करनेवाली पूर्व दिशा की तरह और मणिमण्डल को धारण करनेवाली समुद्र की वेला की तरह सुशोभित हुई । उस अवस्था में भी उसका उदर वृद्धिगत नहीं हुआ । दोनों स्तन कठिन अग्रभागवाले एवं कृष्णमुखवाले नहीं हुए । पेट की त्रिवली विनष्ट नहीं हुई । पेट ज्यों का त्यों पतला का पतला ही बना रहा । मुख पर पाण्डुरता

क्षणमपि चालस्यं चित्तेऽपि च कश्चिदप्युद्वेगो नाजनि । सर्वेषाममुमतां-स्याच्छ्रेयः, कश्चिदपि दुःखभाग्न भवेदखिलानामहर्निशं नितरां सुखशान्ति-वृद्धिर्भूयात् । समृद्ध्यभावो न कस्यचिदपि भवेत् । पश्यन्तु सर्वे भद्राणि, भवन्तु सर्वे निरामयाः न जायतां स्वप्नेऽपि कस्यचिदिष्टविप्रयोगोऽनिष्ट संयोगो वा । मनस्येवंविधा तस्या भावनाऽभवत् । सर्वकल्याणकामना-शालिन्या अस्या मृगाक्ष्या मुखं कदाचिदप्यपशब्दैः कश्चलं न जातम् । गर्भस्थार्भकप्रभावादस्या अक्ष्णोश्चाञ्चल्यमपि नागतम् ।

अस्या वर्तते स्म हृदयेऽनुरागः, सर्वप्राणिनः प्रति मैत्रीभावः, गुणि-जनेषु प्रमोदश्च । अन्तर्वत्नी यं न कदाचिदपि तदवस्थायामपि स्वीयधर्म्य-कृत्येशिथिलादरा जाता । तदार्मो तरुणेन्दुगौरवर्णां तामतान्तां मुहुर्मुहु-र्निरीक्ष्य संजातसुखो जज्ञे । अमन्यत च पुण्येन लब्धं स्वगृहस्थधर्मम् । शिरीषपुष्पादपि कोमलाङ्ग्यास्तस्याः स्फाटिकाश्मकान्त्याः कपोलपाल्यां

नहीं आयी । आलस्य सदा दूर रहा । चित्त में किसी भी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न नहीं हुआ । सदा उसके मन में यही भावना रहती कि संसार के सब प्राणी कल्याणभाजन बनें । कोई भी जीव दुःखी न रहे । समस्त जीवों में सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि होती रहे । किसी भी जीव को स्वप्न में भी इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग न हो । समस्त प्राणी निरामय रहें । इस प्रकार सम्पूर्ण जीवों के कल्याण की कामनावाली त्रिशला का नेत्रयुग मृगके नेत्रयुग जैसा था, मुख अपशब्दों से कभी भी मलिन नहीं हुआ । गर्भस्थ अर्भक—बालक—के प्रभाव से नयनों में उसके चपलता भी नहीं आयी । उसके हृदय में जीवों के प्रति अनुराग भरा रहा । मन में मैत्रीभाव एवं गुणिजनों को देखकर प्रमोदभाव जमा रहा । गर्भगत अर्भक के प्रभाव से ही वह कभी भी अपने धार्मिक कृत्यों के प्रति प्रमादपतित नहीं हुई । पूर्णिमा के चन्द्र जैसी गौरवर्णवाली उस त्रिशला महारानी को अमलिन चित्त देखकर हर्षित हुआ नरेश सिद्धार्थ ऐसा मानता था कि मेरा यह पुण्यलभ्य गृहस्थ धर्म धन्य है । शिरीषपुष्प के जैसी कोमल अंगवाली उस त्रिशला की कपोलपाली में जो कि स्फटिकमणि के समान कान्तिवाली

प्रतिबिम्बिताङ्कोऽनङ्गबन्धुः कुरङ्गलक्ष्मेन्दुर्धूम्रवर्णोपेत इव रात्रौ प्रतिभाति स्म। इत्थं नारीत्वेऽपि सर्वोत्कृष्टसौभाग्यसुखमनुभूयमानायास्तस्या गर्भार्भकसंरक्षणतत्पराभिर्देवीभिः समुपास्यमानायाः समुचितलभ्यमानकृतप्रश्नोत्तराभिः समं सुखं सुखेनाबाधगत्या दिवसा निर्यान्ति स्म।

धन्या सा जननी पिताऽपि सुकृती गेहं च तत्पावनम्,
धन्या सा घटिका रसाऽपि सफला साऽनेन याऽलंकृता।
श्लाघ्योत्पत्त्या, दिवसोऽपि सोऽपि महितो वीरेण मोक्षार्थिना,
जात्या संविहितो नमामि नितरां तं सन्मतिं सन्मतिम् ॥ ४० ॥

थी प्रतिबिम्बित हुआ अनङ्गबन्धु चन्द्र रात्रि में कुरङ्गलाञ्छनवाला होने के कारण धूमिलवर्णोपेत जैसा प्रतीत होता था—झलकता था। गर्भावस्था में वर्तमान त्रिशला रानी से देवियां विविध प्रकार के प्रश्नों को पूछा करतीं और समुचित उत्तर प्राप्त करती थीं। इस तरह देवियां माता का मनोरंजन किया करतीं। स्त्रीपना होने पर भी सर्वोत्कृष्ट सौभाग्य का अनुभव करती हुई त्रिशला माता के गर्भ के संरक्षण करने में दत्तावधान बनी हुई वे देवियां माता की सेवा से एक क्षण भी विमुख नहीं होती थीं। इस प्रकार बड़ी शान्ति और आनन्द के साथ अबाधगति से त्रिशला माता का समय निकलने लगा।

वह माता धन्य है, वह पिता भी धन्य है, वह धरा भी पवित्र है, वह घड़ी भी प्रशंसनीय है, वह भूमि भी भाग्यवती है और वह दिवस भी अत्यन्त पूजनीय है जिसको इस मोक्षगामी श्री वीर प्रभु ने अपने शुभजन्म से पवित्र किया है—अलंकृत किया है। अतः मैं परमोत्कृष्ट भक्तिपूर्वक उन सन्मतिशाली सन्मति वीर प्रभु को नमस्कार करता हूं ॥ ४० ॥

पुण्यं यैः समुपार्जितं परभवे ते प्राप्नुवन्ति श्रियम्,
जायन्ते जगतीह तेऽमरनिभैः पुंभिश्च सेव्याः सदा ।
श्रीमत्तीर्थकृतां भवन्ति भुवि ते जन्मप्रदाः प्राणिनः,
तस्माल्लब्धमनुष्यजन्महितकृत्पुण्ये मतिर्धीयताम् ।। ४१ ।।

दृष्टा मयाऽनेकविधा धनाढ्या केचिन्मदान्धाः सरलाश्च केचित्,
केचिद्दयाहीनहृदः कठोरा परापदीनापि सदाशया हा !
केचिच्च शैवालयुताश्मतुल्या वाचैव रम्या, न च शारदायाः
पुत्रांश्च रिक्तान्प्रति केऽपि दृष्टा दयालवः सन्तु तथाऽऽशयो मे ।। ४२ ।।

इत्थं नरेशजनकेन विनिर्मितेऽस्मिन् श्रीमूलचन्द्रविबुधामनवावरेण ।
द्वितीयकः स्तबक एष गतो मुदे स्यात् स्वर्गं गतस्य जननीजनकस्य साक्षत्
।। ४३ ।।

द्वितीयः स्तबकः समाप्तः

जिन्होंने पूर्वभव में पुण्य उपार्जित किया है वे लक्ष्मी के भोक्ता होते हैं, देवता तुल्य मनुष्य उनकी सेवा में निरन्तर निरत रहते हैं, ऐसे जीव ही तीर्थंकर जैसी महान् विभूतियों के जन्मदाता होते हैं । इसलिये पुण्यलभ्य इस मनुष्य जन्म में हितविधायक पुण्यकर्म में हे सज्जनो ! अपनी बुद्धि को लगाओ ।। ४१ ।।

पूर्व पुण्यकर्म के उदय से जिन्हें बाह्य विभूति प्राप्त हो जाती है उनमें से कितने ही व्यक्ति तो उसके मद से अन्धे हो जाते हैं— हेय और उपादेय के ज्ञान से रहित हो जाते हैं, कितने ही जन सरल--कषाय की उत्कटता से रहित—हो जाते हैं, कितने—ही जन दयाविहीन हृदयवाले हो जाते हैं, कितने ही धनिकजन इतने अधिक कठोर हो जाते हैं कि वे दूसरों की आपत्ति तक में सहायक नहीं होते । कितने ही धनाढ्यजन काई से आच्छादित हुए पाषाण की तरह ऊपर से मीठी-मीठी बातें करते हैं । ऐसे ऐसे धनाढ्यों को मैंने देखा है परन्तु ऐसे धनाढ्यों को आजतक नहीं देखा जो गरीब अधिकारी विद्वानों के प्रति अपनी दयालुता का प्रदर्शन करते हों । अतः मेरा यही सदाशय है कि धनिकवर्ग विद्वानों के प्रति सदाशयवाले बनें ।। ४२ ।।

द्वितीयपुत्र नरेशकुमार के जनक एवं मनवा के पति मूलचन्द्र पण्डित के द्वारा रचित इस वर्धमानचम्पू काव्य में यह द्वितीय स्तवक समाप्त हुआ । यह दिवंगत पूज्य जननीजनक को हर्षप्रदाता हो ।। ४३ ।।

तृतीय: स्तबक:

वर्धमानं महावीरं वीरं सन्मतिदायकम् ।
स्याद्वादन्यायवक्तारमतिवीरं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

नमामि तं वीरमहं यदीयमजय्यशक्तिं प्रविलोक्य भीतः ।
यः संगमस्त्रासयितुं यमागाद् बभूव सच्छिष्यनिभः स तस्य ॥ २ ॥

अथ द्वादशघंटाधिकसप्तदिवसोपेता नवमासा यदा व्यतीयुस्तदा चैत्रशुक्लायां त्रयोदश्यां तिथावर्यमायोगे श्रीसिद्धार्थनृपतिवल्लभा त्रिशला जगद्वल्लभं प्राचीवार्कं सर्वाङ्गरम्यं मनोजाकाररूपं माहगुणमणिद्वीपं वज्रवृषभनाराचसंहननोपेतं समचतुरस्रसंस्थानसमलंकृतं बाहुल्यशक्तिमेकमप्रतिममर्मकरत्नं प्रासूत । दिशि दिशि विसरद्भिः पुत्रतेजोविलासैस्तदा तमःस्तोमोऽस्तंगतः क्वान्तर्हितो न जाने । वैद्युतप्रकाश इव सर्वत्र

सन्मतिदायक ऐसे वर्धमान महावीर वीर प्रभु को जो स्याद्वादन्याय के उपदेशक होने के कारण अतिवीर कहलाये मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

मैं उस वीर प्रभु की शत शत बार वंदना करता हूं जिनकी शक्ति को अजेय मानकर भयभीत करने के लिए आया हुआ संगमदेव स्वयं भयभीत होगया और उनका विनीत शिष्य जैसा हो गया ॥ २ ॥

जब गर्भ के नौ माह सात दिन और बारह घण्टे समाप्त हो गये—पूर्ण हो गये—तब चैत्रसुदी १३ की तिथि को सूर्य के योग में उस सिद्धार्थ नृपति की वल्लभा त्रिशला ने पूर्व दिशा जैसे सूर्य को जन्म देती है वैसे ही सर्वाङ्ग सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया । पुत्र का रूप कामदेवके समान सुहावना था । उत्कृष्ट गुणरूपमणियों का वह द्वीप के जैसा था— खजाना था । वज्रवृषभनाराचसंहननवाला था । समचतुरस्रसंस्थान से वह शोभित था । उसके जैसा और कोई शरीर न होने से वह अप्रतिम था । उसके शरीर से निर्गत तेज के प्रभाव से जो कि प्रत्येक दिशा में व्याप्त हो रहा था पता नहीं पड़ा कि अंधकार का समूह कहां अन्तर्हित हो गया । बिजली

जगति शान्तितरङ्गमाला प्रासरत् । अधोलोकनिवासिनां नारकाणामपि निरन्तरमसह्यदुःखदावाग्निपतितानां क्षणमेकं यावत् नारकीययन्त्रणा विनिर्मुक्तत्वाच्छान्तिर्जाता । आनन्दभेरीणां निनादेन तदा समस्तमपि तत्कुण्डलपुरमेकालयमिव प्रपूरितमभवत् । सर्वत्र तत्र महान्तोऽन्तःकरण-विमोहिनः प्रमोदोत्सवाः प्रचुरमात्रयाऽभूवन् । प्रकर्षहर्षभराक्रान्तं तन्नगरं समुद्वेलितसमुद्रवत् क्षुब्धं बभूव । पुत्रजन्मोत्सवं लक्ष्यीकृत्य राज्ञा सिद्धार्थेन सिद्धार्थेन सिंहासनयुग्मे च चामरे विमुच्य प्रभूतमात्रायां दानं याचकेभ्यो वितीर्णम्, महतोत्साहेन च राज्योत्सवो विहितः ।

प्रभोर्जन्मप्रभावात् सौधर्मेन्द्रस्य हर्यासनं स्वयं यदा प्रकम्पितं तदा तत्प्रकम्पनतस्तेन कुण्डलपुरेऽवधिज्ञानिना तीर्थंकरस्यान्त्यस्य जनिर्जातेति विज्ञातम् । सद्यः स समस्तनिलिम्पपरिवारेण परितः परिवृतः सामोदो विविधां लास्यक्रियां विदधानः कुण्डलपुरं समागच्छत् ।

के प्रकाश की तरह शान्तिरूप तरङ्गों की माला सर्वत्र फैल गई । अधोलोक में निवास करनेवाले नारकियों तक को भी जो कि निरन्तर असह्य दुःखरूपी दावाग्नि में जलते रहते हैं एक क्षण के लिए शान्ति मिल गई । अर्थात्—उनकी नारकीय यन्त्रणा एक क्षण-भर को शान्त हो गयी । उस समय आनन्दभेरी की गड़गड़ाहट से समस्त कुण्डलपुर एक घर के जैसा भर गया । नगर में सर्वत्र मन को मोहित करनेवाले आनन्दोत्सवों का प्रवाह उमड़ पड़ा । प्रकर्ष हर्ष के भार से विभोर हुआ वह नगर समुद्वेलित समुद्र की तरह क्षुब्ध हो उठा । राजा सिद्धार्थ ने पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में सिंहासन और दो चामरों के सिवाय याचकजनों को प्रभूतमात्रा में दान दिया । बड़ी धूमधाम के साथ राज्य की ओर से उत्सव मनाया गया ।

प्रभु के जन्म के प्रभाव से सौधर्मेन्द्र का आसन स्वयं कम्पित हुआ । उसके प्रकम्पन से उसने अपने अवधिज्ञान से यह ज्ञात कर लिया कि कुण्डलपुर में अंतिम तीर्थंकर का जन्म हुआ है । वह समस्त देवपरिवार से चारों ओर से घिरकर बड़े आमोद-प्रमोद के साथ विविध प्रकार के नर्तन करता हुआ कुण्डलपुर में आया ।

राजभवनं समेत्य तेनानेके मांगल्योत्सवास्तेनिरे। जातैस्तैर्देवविहितोत्सवैः कुण्डलपुरीयस्यैकैकपरमाणुरपि झंकृतो गुञ्जितश्चाभवत्। मातुस्त्रिशलायाः स्तुतिं कुर्वाणेन शक्रेण तेन तदा भणितम्—मातस्त्वमेव जगन्माताऽसि यतस्तवायं सुतो विश्वोद्धारको भविष्यति। अपारसंसारसंतमसान्धीकृतेऽस्मिन् जीवलोके सज्ज्ञानप्रदायकत्वात् प्रकाशपुञ्जनिभोऽयं ते सुपुत्रः सुपथप्रकाशको भूत्वा संसृतिस्थानां भ्रमं चाज्ञानं निरस्य तेषां विश्वेषां मंगलपथप्रदर्शकआदर्शनररत्नं दिनमणिरिव स्वगोभिश्चकासिष्यति, धन्या त्वमसि, अधुना त्वादृशी सौभाग्यवती सुतवती भामिनी काप्यन्या जगति नास्ति।

राजभवन में आकर उसने अनेक मांगल्योत्सव किये। देवों द्वारा किये गये उन उत्सवों से कुण्डलपुर का एक एक परमाणु झंकृत और गुञ्जित हो उठा। उस समय त्रिशला माता की स्तुति करते हुए इन्द्र ने कहा—हे माता! तुम जगत् की माता हो, क्योंकि आपका यह पुत्र विश्व का उद्धारकर्ता होगा। अपार संसाररूपी गाढ़ अन्धकार से अंधीभूत इस जीवलोक में सम्यग्ज्ञान का प्रदाता होने के कारण वह प्रकाशपुञ्ज जैसा होगा और सुपथ का प्रदर्शक होकर वह संसारस्थ भ्रम और अज्ञान का निरसन करेगा तथा समस्त प्राणियों को उनके मंगलकारक मार्ग का प्रकाशक होगा। यह एक आदर्श नररत्न बनकर सूर्य के समान अपनी वाणी के द्वारा संसार में चमकेगा। माता! तुम धन्य हो। इस समय तुम्हारी जैसी सौभाग्यवती एवं पुत्रवती माता इस जगत् में दूसरी कोई और नारी नहीं है।

त्वं धन्याम्ब ! त्रिभुवनगुरोर्जन्मदात्री यतोऽसि,
जन्माऽस्माकं सफलमभवद्दर्शनात्ते पवित्रात् ।
धन्यो जातस्तव सुतपदस्पर्शनान्मर्त्यलोकः,
स्वर्गावासो नहि रुचिकरस्तं तृणायाम्ब ! मन्ये ।। ३ ।।

धन्या भारतभूरियं भगवतां तीर्थंकराणां च या,
जन्माद्यैः प्रथितैर्महोत्सवशतैः कल्याणकैः पंचभिः ।
पूता सा सुरवासतोऽपि नितरां पूज्या च मान्याऽनृणाम्,
सिद्धिप्राप्तिपवित्रसुस्थलमियं न स्वर्गभूर्भोगभूः ।। ४ ।।

सुरललनानामीदृक् सौभाग्यं नास्ति तत्र सुरलोके ।
गर्भाधानाभावाद् धन्याऽसि त्वमेकजननीत्वात् ।। ५ ।।

हे माता ! तुम धन्य हो, क्योंकि तुम तीनों लोकों के स्वामी प्रभु की जन्मदात्री जननी हो । आपके पवित्र दर्शन से हम लोगों का जन्म पवित्र हुआ । सफल हुआ । यह मर्त्यलोक आपके पुत्र के पदस्पर्शन से धन्य बन गया है । हम तो इसके आगे स्वर्ग के निवास को भी रुचिकर नहीं मानते हैं । हमें तो वह इसकी महिमा के समक्ष तृण के जैसा लग रहा था ।। ३ ।।

यह भारत भूमि धन्य है जो भगवान् तीर्थंकरों के प्रथित शतमहोत्सव-वाले पांच जन्म आदि कल्याणकों द्वारा पवित्र हुई है । यह तो स्वर्गरूपी निवासस्थान से भी अत्यन्त पूज्य है एवं मान्य है क्योंकि यही मुक्ति प्राप्त करने की सुन्दर स्थली है । स्वर्ग-स्थली और भोग-स्थली ऐसी नहीं हैं । ।। ४ ।।

ऐसा परम सौभाग्य सुरललनाओं को स्वर्ग में कहां प्राप्त है ? वहां तो वे गर्भाधान क्रिया से ही वंचित रहती हैं । अतः तुम ही प्रभु की जन्म-दात्री माता होने के कारण धन्य हो ।। ५ ।।

इत्थंभूतैः पश्चात्तापैर्मातुः स्तुतिं विधाय सौधर्माधिपतिना तेन संक्रन्दनेन सिद्धार्थोऽपि संस्तुतः सत्कृतश्च । कथितं चायमर्भकः—

यद्वीक्षणेऽपि हर्षाब्धिर्मे समुद्वेलितो भवति ।
यस्याङ्के क्रीडिष्यति का वार्ता तस्य पुण्यस्य ।। ६ ।।

रूपातिशयं पिबतो मेंऽगानि खलु पुलकितानि जातानि ।
सोऽतिसौभाग्यशाली स्प्रक्ष्यति दिवानिशं चास्य ।। ७ ।।

क्रोडे धृत्वा स्वाङ्गं रतिसुकुमाराणि मृदूनि रम्याणि ।
संपेशलानि, देवैरस्माभिर्वापि न लभ्यानि ।। ८ ।।
(युग्मम्)

इस प्रकार के पश्चात्तापों द्वारा माता की स्तुति करने के बाद उस सौधर्माधिपति इन्द्र ने सिद्धार्थ नरेश की स्तुति की और सत्कार किया । बाद में फिर उसने कहा—यह बालक जिसे देखकर मेरा हर्षरूपी समुद्र मर्यादातिक्रान्त हो रहा है, हे नरेश ! जिस भाग्यशाली की गोद में खेलेगा, उस पुण्यात्मा के पुण्य की महिमा क्या कही जाय ? ।। ६ ।।

इस बालक के रूपातिशय को देखकर जब मेरा अंग-अंग पुलकित हो रहा है तब वह तो बड़ा ही भाग्यशाली होगा जो हम इन्द्रों को एवं देवों को भी अलभ्य ऐसे इसके सुकुमार, मृदु और सुरम्य अंगों को अपनी गोद में रखकर रात-दिन अपने अंगों से लड़ायगा ।। ७—८ ।।

तदनन्तरं शक्राज्ञापालनतत्परां शची मातुः सकाशं गर्भगृह—प्रसूति —निलयं समेत्य सप्रश्रयं तत्पार्श्वे कृत्रिमं शिशुमेकं निधाय नवजाताभकं स्वाङ्के संस्थाप्य प्रसूतिगृहाद्बहिरानीय स्वस्वामिने शक्राय ददौ। अमन्दानन्दस्मेरमुखः सुराधिपोऽपि स स्वोत्संगे तं समारोप्यैरावताभिधानं गजराजं चारुह्य सुमेरुगिरिं प्रति प्रतस्थे। वायुवेगवल्लीलयैव तत्र समेत्य तेन प्रथमतः संस्थापिते सिंहासने पूर्वाभिमुखं तं बालार्काभं बालतीर्थंकरं संस्थाप्य तस्य महोत्सवपूर्वकं महाभिषेको विहितः। अभिषेकानन्तरं यदा शची तस्य पवित्रं गात्रं प्रोञ्छति तदा प्रोञ्छिता अपि तत्कपोलपालीप्रदेशस्था जलबिन्दवो यदा शुष्का नाभवन्, प्रत्युत मुहुर्मुहुर्वस्त्रेण प्रोञ्छनात्ते विशेषरूपतश्चाकचिक्योपेता एव संजातास्तदा सा बहुविस्मयभावापन्नेन सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षकेनावलोकिता, तदा परिहास-

---

इसके बाद शची जो कि इन्द्र की आज्ञा पालन की प्रतीक्षा में थी, माता के समीप गयी। वहां जाकर उसने माता के पास एक माया-मयी-कृत्रिम-बालक रख दिया और नवजात शिशु को उठाकर वह प्रसूति-गृह से बाहर ले आयी, आकर उसने उसी समय उसे अपने स्वामी इन्द्र को दिया। अमन्द-आनन्द से मुसकाते हुए इन्द्र ने उसे गोद में लेकर और ऐरावत हाथी पर सवार होकर सुमेरु पर्वत की ओर प्रस्थान किया। देखते ही देखते वह सुमेरु पर्वत पर पहुँच गया। वहां प्रथमतः स्थापित सिंहासन पर प्रभु को जिनकी आभा बालसूर्य के जैसी थी उनका मुख पूर्व दिशा की ओर करके बैठा दिया। पश्चात् बहुत भारी उत्सव-पूर्वक उसने प्रभु का महाभिषेक किया। जब अभिषेक विधि समाप्त हो चुकी तब शची ने प्रभु के शरीर को पोंछना प्रारम्भ किया। पोंछते-पोंछते जब वह उनके शरीर के पानी को पूरा पोंछ चुकी तो उसे यह भान हुआ कि अभी उनके गाल की जल बिन्दुएँ पुंछने से बाकी रह गई हैं। अतः उसने वस्त्र से रगड़-रगड़ कर उन्हें पोंछना प्रारम्भ किया। परन्तु वे जल बिन्दुएँ जब साफ नहीं हुई तो उन्हें चमकते हुए देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसे आश्चर्यचकित देखकर अचम्भे में पड़े हुए इन्द्र ने जब सूक्ष्म दृष्टि से निहारा तो उसको

पूर्वकं शक्रेण निगदितम् । मुग्धे ! नेमे कपोलस्था जलबिन्दवः, किन्तु तीर्थंकरस्य निसर्गत एवाप्रतिमसौन्दर्यशालित्वात्स्मैल्योपेते गण्डप्रदेशे त्वद्धृतनासिकाभरणसंलग्नानां मुक्ताफलानामेवाकृतयः प्रतिबिम्बिता इमाः सन्ति । एवं सम्बोधितया तया तद्देहो वस्त्राभूषणैरनर्घ्यैः सुसज्जीकृतः । हर्षोत्सवोऽपि विशेषतरस्तत्र जातः । नन्द्यावर्ताभिधानस्य राजभवनस्योपरि समारोपितो ध्वजस्तथा सिंहलाञ्छनालङ्कृत आसीदतोऽन्तिमस्यास्य-तीर्थंकरस्यांघ्रौ चिह्नस्वरूपः सिंहस्तेन संस्थापितः । तत्र तावदिदमेव प्रधानकारणमवलोकयामः—तिरश्चां मध्ये यथा भवति केशरी विजन-विहारित्वात्, निर्भयतागुणोपेतत्वात्, समविषमभूमिसमदृष्टित्वात्, विशिष्टशक्तिसम्पन्नत्वात् निजलक्ष्यसंपादने च तन्मयत्वात् सर्वसाधारण-स्तथायमपि पुंसामसम इति हरिलाञ्छनाङ्कनव्याजेन त्रिलोकोदरवर्तिनां प्राणिनां प्रबोधनायैवाग्विसर्गमस्य वैशिष्ट्यं प्रख्यापितम् ।

परिहास करते हुए इन्द्र ने मुसका कर उससे कहा—मुग्धे ! ये जल-बिन्दुएँ नहीं हैं जिन्हें तू रगड़–रगड़ कर पोंछ रही है । ये तो तीर्थंकर हैं—अतः स्वभावतः ही इनका शरीर अप्रतिम सौन्दर्यशाली होता है । इसलिए अत्यन्त निर्मल कपोल प्रदेश में तेरी पहिरी हुई नथ के मोतियों के ये प्रतिबिम्ब हैं जो इस तरह यहां झलक रहे हैं । इस प्रकार अवगत होकर शची ने फिर प्रभु के शरीर पर वस्त्राभूषण पहिराये । इन्द्र ने यहां हर्षोत्सव भी विशेष रूप से किया । नन्द्यावर्त नाम के राजभवन के ऊपर जो ध्वजा समारोपित की गई थी—वह सिंह के चिह्न से अलंकृत थी । अतः इस तीर्थंकर के—श्री महावीर प्रभु के जो कि इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर थे चरणों में चिह्नस्वरूप इन्द्र ने सिंह स्थापित किया । इस चिह्न के स्थापित करने में मैं तो यही कारण समझता हूँ कि जैसे तिर्यञ्चों में सिंह प्रधान होता है और वह निर्जन अरण्य में विचरण करता है, उसे किसी का भय नहीं होता है । समविषम भूमि में वह समदृष्टि वाला रहता है, विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होता है, और अपने लक्ष्य के सम्पादन में तन्मय होता है, उसी तरह यह पुत्र भी पुरुषों के बीच अनोखा ही मानव होगा । यही बात बिना कुछ कहे ही इन्द्र ने सिंह के चिह्न के ब्याज द्वारा समस्त त्रिलोकवर्ती प्राणियों के समक्ष प्रकट की है ।

प्रभोर्जन्मत एव नृपालमौलेः सिद्धार्थस्य विभवो यशः प्रतापः पराक्रमश्च विशेषतोऽवर्धतातोऽस्य बालकस्य नयनानन्दजनकस्याभिधानं वर्धमान इति सार्थकं संस्थापितम् ।

अभिषेकोत्सवावसानान्तरं शक्रो हरि गजमैरावताख्यं समारुह्य राजमार्गेण संचरंस्ततः कुण्डनपुरं समाजगाम । पश्चाज्जिनजनन्याः समीपं समेत्य शची तं बालतीर्थंकरं तदभ्यर्णेऽह्नाय स्थापयामास । निखिलो निलिम्पपरिवारः स्वस्थानं प्रस्थितः ।

दिशः प्रसेदुश्च नभो बभूव विनिर्मलं तारकितं तदानीम् ।
वाता ववुर्मंद सुगंधशीताः, मार्गाः समाः पंकविहीनरूपाः ।। ६ ।।

प्रभु के जन्म के प्रताप से नृपमौलि सिद्धार्थ का विभव, यश, प्रताप, और पराक्रम दिन दूना और रात चौगुना बढ़ा । अतः नयनानन्दजनक इस बालक का नाम इन्द्र ने "वर्धमान" ऐसा सार्थक स्थापित किया ।

जब अभिषेक विधि समाप्त हो चुकी तब वापिस आने के लिए इन्द्र ऐरावत गजराज पर सवार होकर राजमार्ग से चलता हुआ कुण्डनपुर नगर में आया । शची जिनेन्द्र की माता के पास गयी और वहां जाकर उसने शीघ्र ही उस बाल तीर्थंकर को उनके पास रख दिया । इसके अनन्तर सब देवपरिवार अपने-अपने स्थान पर चला गया ।

प्रभु के जन्म के प्रताप से समस्त दिशाएं निर्मल थीं, आकाश भी निर्मल था । तारे उसमें दिखाई नहीं पड़ते थे । मंद शीतल सुगंधित वायु चल रही थी । समस्त पथ कांचड़ कंटक आदि से विहीन थे और सम थे ।। ६ ।।

प्रभातवाताहृतिकम्पमाना लता च पुष्पाणि ववर्ष मोदात् ।
ननर्त केकाध्वनि लाञ्छनेन गीतिं जगे, वाद्यरवो बभूव ।। १० ।।

धेनुस्तनेभ्यः पयसां प्रवाहो,
विनिर्गतस्तज्जनिहर्ष भावात् ।
शशाम तस्मिन् समये विरोधो,
विरोधिनां गोत्परि जायमाने ।। ११ ।।

त्रयोविंशतितमपार्श्वनाथस्य तीर्थंकरस्य पश्चात् पंचाशदधिक त्रिशतवर्षेषु व्यतीतेषु सत्सु ख्रिष्टाब्दस्य प्रारंभात् प्राक् नवनवत्यधिक पंचशत संवत्सरेषु वीरजन्मनोऽयं काल आसीत् ।

प्रातः काल की वायु से हिलती हुई लताओं ने हर्ष के आवेग से ही मानो नाच-नाच कर पुष्पों की वर्षा प्रारम्भ कर दी; एवं मयूर की ध्वनि के बहाने से ही मानो उन्होंने मंगल गीत गाये । वादित्रों ने भी अपनी ध्वनि सुनायी ।। १० ।।

गायों के स्तनों से दुग्ध का प्रवाह झरने लगा । प्रभु के जन्मजन्य हर्ष के कारण उस समय परस्पर विरोधी जीवों का विरोध भी शान्त हो गया ।। ११ ।।

२३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के बाद इन वीर–वर्धमान–भगवान् का जन्म हुआ । पार्श्वनाथ के मोक्ष चले जाने पर २५० वर्ष का इनके जन्मकाल में विरहकाल रहा । अर्थात् २५० वर्ष जब निकल गये तब भगवान् वर्धमान का जन्म हुआ । उस समय ईस्वी सन्–संवत्सर–आरम्भ नहीं हुआ था । यह संवत्सर तो वीर भगवान् के जन्म के बाद प्रारम्भ हुआ है । अर्थात् वीर भगवान् के जन्म के बाद जब ५९९ वर्ष व्यतीत हो

द्वितीयेन्दु कलावद्वर्धमानोऽसौ वर्धमानकुमारो बालोचिताभिर्वि-विधाभिः स्वलीलाभिर्जननीजनकौ निखिलं च राजपरिवारं संप्रीणयन् सर्वेषां प्रीतेरास्पदं बभूव । जन्मत एवास्य वपुष्यप्रतिमं सौन्दर्येण मुखे राकासुधादीधितिना, नयनयुग्मे सरोजेन नासिकायां यवनालिकया कर्ण-युगले कीर्तिध्वजपटेन पाणावसाधारणबलेन पादारविन्दयोश्च पवित्र चंक्रमणेन संस्थानमकारि । विग्रहोद्भूतनिखिलाङ्गोपाङ्गगणोऽस्यान्यूनो-ऽनतिरिक्तः पूर्णः प्रमाणोपेतश्चासीत् । नासीत्कुत्रापि कस्यचिदपि किञ्चिद-प्यल्पत्वं हीनत्वमधिकत्वं वा, सहजातिशयशोऽस्य देहः स्वाभाविक सुगन्ध सहितत्वात् गंधवर्तिकालय इवाभवत्, नाभवत्तत्राल्पीयानपि प्रस्वेदलेशो ऽपरिमितबलस्य तत्राधिष्ठानात् । पाचनशक्तेरसाधारणत्वान्मलमूत्रा-दीनामप्यभावोऽभवत्तत्र । जातं च तस्य शुभ्रवर्णोपेतं शोणितं देहे । मधुरा चास्य वाणी द्राक्षाया माधुर्यमपाकरोति स्म । विग्रहोऽप्यस्य कम्बु-चक्र-

---

गये—तब से प्रारम्भ हुआ है । वर्धमान कुमार द्वितीया के चन्द्रमा की कला की तरह वृद्धिगत होने लगे । वे अपनी नाना प्रकार की बालोचित क्रीड़ाओं द्वारा माता–पिता के एवं अपने समस्त पारिवारिक जन के मन को मुदित करते हुए उन सबकी परमप्रीति के पात्र बन गये । जन्म से ही इनके शरीर में अनुपम सौन्दर्य था । मुख इनका पूर्णिमा के चन्द्र जैसा खिला हुआ था । दोनों नेत्र इनके कमल के जैसे सुहावने थे । नासिका इनकी यवनाली के समान मनोरम थी । कर्णयुगल इनका कीर्तिध्वज के वस्त्र जैसा विस्तृत था । इनके बाहुयुगल असाधारण बल के भण्डार थे । पादारविन्द इनके पवित्र चंक्रमण से सनाथ थे । इनका समस्त शारीरिक अंगोपाङ्ग पूर्णता से भरा हुआ था और अपने-अपने प्रमाण के अनुरूप था । वह न अधिक था न कम था । शरीर इनका स्वभावतः सुगन्धित था । अतः वह ऐसा प्रतीत होता था कि मानो धूपबत्ती का एक विशिष्ट घर ही हो । प्रभु के शरीर में पसीना नहीं आता था, क्योंकि वह अपरिमित बलशाली था । मलमूत्र का भी वहां अभाव था—कारण कि प्रभु की पाचनशक्ति असाधारण थी । उनके शरीर का रक्त भी दुग्ध के जैसा शुभ्र वर्ण का था । प्रभु की वाणी इतनी मिष्ट थी कि उसके समक्षद्राक्षाका माधुर्य भी कुछ

कंज-यव-चापादिप्रशस्तचिन्हैरुपेतो देवैरप्यलंघनीयश्चासीत्। आसीदयं जन्मत एव ज्ञानत्रयेण समन्वितः।

श्रीमत्पूज्य पुरुषाणां देवेशां चरमाङ्गिनाम्।
अपूर्वालौकिकाचाराः भवन्ति विस्मयावहाः ॥ १२ ॥

यथाऽयं बाह्यपदार्थावबोधनक्षमेण विज्ञानेनाद्वितीयो जज्ञे तथैव स्वानुभूतिविधानदक्षेणाध्यात्मिकज्योतिषाऽप्यसाधारणम एव, यतः पूर्वभवे समुदितं क्षायिकाख्यं सम्यक्त्वमस्यात्मनि प्रकाशितमासीत्। एतादृशां विशिष्टानां महिम्नां सोऽयं तीर्थंकरः साक्षात् पुंज इवासीत्।

नहीं था। उनका शरीर शंख, चक्र, कमल, यव और धनुष आदि के चिह्नों—वाला था। देवों का बल भी प्रभु के बल के समक्ष हेच था। प्रभु जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी थे।

श्रीमान् पूज्य पुरुषों के, देवों के स्वामी इन्द्रों के और चरम शरीर-वालों के आचार आश्चर्यकारक, अपूर्व एवं अलौकिक हुआ करते हैं ॥१२॥

जिस प्रकार प्रभु बाह्य पदार्थों के ज्ञान कराने में समर्थ विज्ञान से अद्वितीय थे, उसी प्रकार वे स्वानुभूति कराने में दक्ष ऐसी आध्यात्मिक ज्योति से भी असाधारण थे। क्योंकि पूर्वभव में समुदित हुआ क्षायिक नामका सम्यक्त्व इनकी आत्मा में प्रकाशित था। ऐसी विशिष्ट महिमाओं के पुञ्ज वे तीर्थंकर थे।

यदाऽयं नंद्यावर्तनाम्नि राजभवने जानुभ्यां संचरति स्म तदा मणिनिर्मितायां भित्तौ प्रतिबिम्बितं स्वात्मानं समुद्वीक्ष्य तद्बिम्बं यदा गृह्णाति तदा संप्रेक्षकानां मनसि जायते स्मारेकेत्थम् यत्तीर्थंकरद्वयं किंस्व-न्मिथो मिलति ।

यदा कदाऽसौ मणिनिर्मितायां, भित्तौ समुद्वीक्ष्य चरन् सवीरः ।
रूपं स्वकीयं प्रतिबिम्बितं तज्जग्राह, चित्ते समभूज्जनानाम् ।। १३ ।।

संप्रेक्षकानां ननु तीर्थकर्तृद्वयं मिथो नो मिलतीति शास्त्रे,
यदुक्तमेतत्तदिहास्त्य सत्यं यतश्च तौ द्वौ मिलतो ऽधुना ऽत्र ।। १४ ।।

यदा ऽयं जातोऽष्टवर्षायुष्क स्तदाऽनेन विनोपरोधावात्मशोधनाभि-प्रायेण, स्वत एव पंचाणुव्रतानि महता ऽऽदरेणांगीकृतानि । हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः पंचपापेभ्यो विरतिरांशिकाऽणुव्रतस्वरूपा निगद्यते ।

जब ये नन्द्यावर्त नामक राजभवन में घुटनों के बल चला करते तब मणिनिर्मित दीवाल पर जब इनका प्रतिबिम्ब पड़ता तो उसे देखकर ये प्रभु उसे पकड़ने लगते, तब देखनेवालों के मन में ऐसी शंका होने लग जाती कि क्या ये दो तीर्थंकर आपस में मिल रहे हैं ?

यही बात इस श्लोक युग्म से प्रकट की है कि शास्त्र में तो ऐसा लिखा है—कहा गया है कि दो तीर्थंकर आपस में कभी नहीं मिलते हैं सो यह बात असत्य प्रतीत होती है क्योंकि यहां तो ये दो तीर्थंकर मिल रहे हैं ।। १३–१४ ।।

जब वर्धमानकुमार ठीक ८ वर्ष के हुए—तब इन्होंने बिना किसीके कहे ही अपने आप ही आत्मशोधन के अभिप्राय से पांच अणुव्रतों को बड़े आदरभाव से अंगीकार किया । इन पांच अणुव्रतों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का आंशिकरूप से परित्याग हो जाता

अतो हिंसायाः प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणरूपाया आंशिक परित्यागरूपा विरतिरहिंसाणुव्रतम् । अनृतस्यांशिक परिवर्जन रूपा विनिवृत्तिः सत्याणुव्रतम् । स्तेयस्यांशिकविरमणरूपा विरतिरचौर्याणुव्रतम् । अब्रह्माख्यस्य कुशीलस्यांशिक विमोचनरूपा विरतिर्ब्रह्मचर्याणुव्रतम् । धनधान्यादिरूपपरिग्रहस्यांशिकपरित्यागरूपं परिमाणविधानं परिग्रहपरिमाणाणुव्रतम् ।

एकदा श्रीवर्धमानकुमारस्यानुपमं ज्ञानमहिमानं निशम्य समुद्भूतां तत्त्वविषयिणीं स्वीयामारेकां परिमार्ष्टुं संजयन्त—विजयनामानौ द्वौ चारणर्द्धि धारकौ मुनिवरौ यदा तत्सान्निध्यमां समागतौ तदा तयोस्तद्दर्शनमात्रत एव सा स्वीयारेका प्रशान्ता । चकितयोस्तयोर्मनसीदमेव तावद्बभूव यदस्यैव स्वामिनो माहात्म्यमिदम् यदावयोस्तारिवकारेकान्दोलितं हृदयमस्य दर्शनमात्रत एव निश्शंकं जातम् । अतो विहितं ताभ्यामस्य नामधेयं सन्मतिरिति द्वितीयम् ।

> तत्त्वार्थं निर्णयात्प्राप्य सन्मतित्वं सुबोधवाक् ।
> पूज्यो देवागमाद्भूत्वाऽकलङ्को बभूविथ ॥
> (उ. पु. ७३/२)

है । हिंसा की आंशिक निवृत्ति से अहिंसाणुव्रत होता है । झूठ की आंशिक निवृत्ति से सत्याणुव्रत होता है । चोरी की आंशिक निवृत्ति से अचौर्याणुव्रत होता है । कुशील की आंशिक निवृत्ति से ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है । एवं धनधान्यादिरूप परिग्रह की आंशिक निवृत्ति से परिग्रह प्रमाण अणुव्रत होता है ।

एक दिन की घटना है कि वर्धमानकुमार की अनुपम ज्ञान महिमा को सुनकर दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज जिनका नाम संजय और विजय था अपनी तत्त्वविषयक शंका को दूर करने के लिए उनके पास आये । ज्यों ही उन्होंने वर्धमानकुमार को देखा तो उनकी शंका दूर हो गयी । इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । चकित मन हुए उन्होंने यही सोचा कि यह सब कुछ माहात्म्य इसी का है कि इसे देखते ही हमारा शंका से आन्दोलित मन शंका—विहीन हो गया । इसलिए उन्होंने इनका दूसरा नाम 'सन्मति' रख दिया ।

एकस्मिन् दिवसे कुण्डलपुरे दृप्तो गजराज आलानस्तम्भमुत्पाट्य गजशालातो बहिर्निर्गतो हाहाकारं परान् विरचयन् प्रजाजनान् वेगाद्भ्रामेतस्ततः प्रतोलीषु, रथ्यासु, च हट्टेषु । हाटकस्थानां पण्यानां राशिमस्तव्यस्तं विदधानोऽसौ करेणुराजो जनानां चेतांसि विशिष्ट विभीषकया समन्वितानि कुर्वन् यथेच्छं चिक्रीड । संत्रस्ता भयविह्वला जनता स्वप्राणान् संरक्षितुं कन्दुकवदितस्ततो बभ्राम । जातं निखिलनगरे सदाभयस्याखण्डं साम्राज्यं । एवं प्रजाजनान् भयविह्वलान् कुर्वन् परिणतो मदान्धः सगजस्तत्राभिमुखीभूय जगामयत्र श्रीवर्धमानकुमारोऽन्य डिम्भैः सह पांसुक्रीडारत आसीत् । समवर्त्तिनमिव विकरालं तं गजेन्द्रं स्वाभिमुखीभूयसमायान्तं संवीक्ष्य क्रीडारतास्तेऽपरे बालका भयभीताः सन्तस्तवा पलायन्ते स्म । परन्त्वचलितधैर्यो बलिष्ठानां धुरीणो वर्धमानकुमारोऽत्रस्तस्तं द्विपेन्द्रं स्वनादध्वनित दिक्तटः केशरीव हेलयैव स भयंकरमपि

दूसरी घटना यह है कि एक दिन कुण्डलपुर नगर में आलान स्तम्भ को उखाड़कर एक मदोन्मत्त गजराज गजशाला से बाहर निकलकर उपद्रव करने लगा । गलियों में, बाजारों में उस समय हाहाकार मच गया । लोगों को भयभीत करता हुआ वह दृप्त गजराज बड़े वेग से इधर उधर फिरने लगा और बाजारों की दुकानों में जो विक्रेय वस्तुएँ रखी हुई थीं उन्हें अस्तव्यस्त करता हुआ वह मनुष्यों के चित्त को विशिष्ट रूप से भयभीत करने लगा और अपनी इच्छा के अनुसार क्रीडा करने में लीन हो गया । संत्रस्त जनता अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए गेंद की तरह इधर उधर भागने लगी । उस समय समस्त नगर में भय का अखण्ड साम्राज्य छा गया । इस प्रकार प्रजाजनों में भय का द्रुतगति से संचार करता वह परिणत गजराज उस तरफ बढ़ा जहां वर्धमान अपने हमजोली बालकों के साथ क्रीडा करने में रत थे । यमराज के समान विकराल उस गजराज को अपनी ओर आते देखकर क्रीडारत वे बालक तो भयभीत होकर वहां से इधर उधर भाग गये परन्तु अचलित धैर्यधारी वर्धमानकुमार निडर होकर वहीं पर डटे रहे । उन्होंने उसी समय ऐसी ध्वनि की जिससे समस्त दिगन्तराल वाचालित हो उठे । देखते देखते ही उन्होंने उस भयंकर

अभयंकरं विधाय तर्जयन् भर्त्संयति स्म। पंचानन गर्जनामिव तद्गर्जनां निशम्य मदावलिप्तकपोलपालिः सः करेणुराजो विलज्जितः संस्तत्रैव भयाच्छुष्कमदो बभूव। विनीतान्तेवासिनमिव तस्थिवांसं तं संवीक्ष्य स कुमारो मार इव रम्याकारः शालमिव विशालं तत्स्कन्धं समारुह्य वज्रमुष्टिप्रहारैस्तं संताडयन् सर्वथा विगतमदं विधाय स्ववशं निनाय।

एतद्वृत्तं समधिगम्य कुण्डलपुर निवासिनो निखिला जना महत्या श्रिया वर्धमानस्य तस्य वर्धमानकुमारस्य निर्भयत्वं शौर्यत्वं च सुरम्यैः प्रशंसावाचि संबोधनैरलंकृत्य शंसन्ति स्म।

एकदा संगमाख्यः कश्चिद्देवस्तदीयां धैर्यसमज्ञां सौधर्मेन्द्रेणामराणां परिषदि प्रणीतां निशम्य स्वविक्रियाबलेनदृप्तो धृतसर्पराज स्वरूपो महावीरकुमारस्य निर्भयत्वं शौर्यं च परीक्षितुं तत्रागात् यत्रासौ वृक्षस्यैक-

---

गजराज को अभयंकर बना दिया। शेर की गर्जना की जैसी वर्धमानकुमार की बलिष्ठ गर्जना को सुनकर वह मदोन्मत्त गजराज लज्जित होता हुआ शुष्क मदवाला हो गया है। विनीत शिष्य के समान अपने समक्ष उसे खड़ा हुआ देखकर कामदेव जैसे सुन्दर वे वर्धमानकुमार शाल—कोट—के जैसे विशाल उसके स्कन्ध पर सवार हो गये। सवार होकर उन्होंने वज्र के जैसे मुष्टि प्रहारों से उसे ताड़ित किया। इस तरह निर्मद करके उसे वैधेय—बेवकूफ के—समान अपने वश में कर लिया। इस वृत्तान्त को सुनकर समस्त कुण्डलपुर की जनता ने बड़ी भारी विभूति के साथ उस वर्धमानकुमार की निर्भयता एवं शूरवीरता की प्रशंसावाचक संबोधनोंसे अभिनंदना—प्रशंसा—की।

एक समय ऐसी एक घटना और घटी कि सौधर्मेन्द्र देवों की सभा में बैठकर वीर के शौर्य की कीर्ति का बखान कर रहा था, उसमें संगम नाम के देव को इन्द्र के कथन पर विश्वास नहीं हुआ, अतः उस अभिमानी ने उसी समय विक्रिया ऋद्धि के द्वारा सर्पराज का रूप बनाया और प्रभु की शूरवीरता एवं निर्भयता की परीक्षा लेने के लिए वह वहां आया जहां कि वर्धमानकुमार अन्य समवयस्क बालकों के साथ क्रीडा करने में रत थे। उनकी यह क्रीडा वृक्ष के अधो भाग में हो रही थी। इस क्रीडा का नाम

स्याधोभागे समवयस्कैर्बालकैः सभ्रा क्रीडारत आसीत् । फणाटोपं विदधानोऽसौ परिवेष्टितवान् महाभयंकरो नागराजो विभीषिकां जनयन् द्रुमक्रीडापरायणं भास्कराकारं कुमारं बिभीषयितुं तस्यानोकुहस्य स्कन्धम् । तं करालकालमिव विकरालं वीक्ष्याखिला क्रीडाकरणे तल्लीनाः कुमारा विटपाद् धरित्री निपत्य भयविह्वलाः स्वप्राणान् रक्षितुमिच्छन्तस्तेषु केचिद् यथामार्गमितस्ततस्ततः प्रपलायन्ते स्म चीत्कार ध्वनिं कुर्वन्तः । केचिच्च संत्रस्ता धरित्र्यामेव मूर्च्छिता मृता इवा भवन् । परन्तु कुमारोऽसौ नाऽत्रस्यत् तमहिराजं विषधरं संगोप्याप्यभीतः हस्तेनैव सहक्रीडयामास । क्रीडाकरणानन्तरं तमाकृष्य तस्मादनोकहाद् दूरी चकार । राजकुमारस्य

आमलकी क्रीडा है । इसे बुन्देलखण्ड में "अंडा डावरी" कहते हैं । वृक्ष पर चढ़कर अन्य बालक पहिले से वृक्ष पर चढ़े हुए अन्य बालक को पकड़ते हैं । यह उनके द्वारा न पकड़ा जाये, इसके लिये वह वृक्ष से नीचे कूद पड़ता है । इस तरह से यह क्रीडा बालक जन खेलते[1] हैं । अपने फण को फैलाकर वह नागराज उस वृक्ष से लिपट गया । नागराज महाभयंकर था । भास्वराकार वाले कुमार को भयभीत करने का उसका अभिप्राय था । विकराल काल के समान उस भयंकर नागराज को देखकर कितने ही बालक तो जो कि खेलने में निमग्न थे डर के मारे वृक्ष से नीचे गिर पड़े और कितने ही उनके साथ अपने प्राणों की रक्षा करने के निमित्त इधर उधर चिल्लाते हुए भाग गये । कितने ही बालक जमीन पर मूर्च्छित होकर मृतक के जैसे हो गये । परन्तु वर्धमानकुमार उस अहिराज को देखकर त्रस्त नहीं हुए, प्रत्युत वे उस सर्पराज के साथ ही क्रीडा करने लगे । जब वे उससे क्रीडा कर चुके तब इसके बाद उन कुमार ने उसे वृक्ष से खेंच कर दूर फेंक दिया । सर्पराज ने जब राजकुमार वर्धमान की ऐसी निर्भयता

---

१ यह क्रीड़ा मैं ने भी की है । इसके फलस्वरूप मेरा बांया हाथ टूटा, जो अभी तक टूटा का टूटा है । ठीक नहीं हुआ ।

निर्भयतां बलाढ्यतां च संवीक्ष्य विजृम्भमाणहर्षोत्कर्षः स नागराजो नुत्वा नत्वा च त्वमसि सत्यं महावीर इत्यभिधाय स्वस्कंधे च महामोदासमारोप्य यथेच्छं ललितं लास्यं संविधाय प्रसन्नमुद्रयोपेतो निजस्थानं निर्जगाम। तस्मिन् समये कुमारातिरिक्तास्तत्रापरे चक्रधर—कालधर—पक्षधराख्या इमे त्रयः कुमारा आसन्।

संगमेन विहिता तस्य नुतिश्चेत्थम्—

तीर्थंकरप्रकृतिपुण्यजुषोजनस्य नैवास्ति किञ्चिदपि कार्यमसाध्यमत्र।
देवादयोऽपि ननु यत्प्रभवप्रभावाद् वश्या भवन्ति गणमान्यजनस्य का वा ॥ १५ ॥

तीर्थकर्तृत्वभूत्या ये भूषयन्ति जगत्त्रयम्।
धन्या धरा गृहं तेषां पवित्रं जन्मना सताम् ॥ १६ ॥

देखी और बलाढ्यता का विचार किया तो वह मारे हर्षोत्कर्ष के झूम उठा। अन्त में वह उनकी स्तुति एवं नमस्कार करके अपने कंधे पर उन्हें चढ़ाकर खूब नाचा एवं मोदमग्न होता हुआ "आप सच्चे महावीर हो" ऐसा सम्बोधित कर अपने स्थान पर वापिस चला गया। उस समय कुमार के अतिरिक्त वहां पर चक्रधर, कालधर एवं पक्षधर ये तीन कुमार थे।

जिसने "तीर्थंकर" नाम कर्म की प्रकृति का बन्ध किया है, उसके लिये संसार में कोई भी मार्ग असाध्य नहीं है। देवादिक भी जब उसके वश में हो जाते हैं तो अन्य साधारण जन की तो क्या गिनती है ॥ १५ ॥

जो तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृतिरूप विभूति से जगत्त्रय को पवित्र करते हैं—विभूषित करते हैं ऐसे उन सन्तजनों के जन्म से वह गृह धन्य है और वह धरा भी धन्य है ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुवंशवनचन्दन ! वंद्यवंद्यपादारविन्द ! नतमौलिसुरेन्द्र सेव्य !
श्रीवर्धमान ! महनीय ! नमोस्तु तुभ्यं तुभ्यं नमोस्तु जितकाममहारिमल्ल!
॥ १७ ॥

चूडामणे ! मनुकुलस्य बुधावतंस ! नाथाह्वयान्वयसरोवर मंजुकंज !
हे लिच्छवीयवरमंडन ! पुण्यमूर्त ! श्रामण्यधर्मनिलयैक सुरत्नदीप !
॥ १८ ॥

वीरातिवीर ! भवभीति विनाशकांघ्री मन्मानसे निवसतां सततं त्वदीयौ ।
संसारसिन्धुतरणे तरणीयमानौ तौ मंगलं च कुरुतां नितरां जनानाम् ।
॥ १९ ॥

इत्थं सुरेशजनकेन विनिर्मितेऽस्मिन्,
श्रीमूलचन्द्र विदुषा मनवावरेण ।
तार्तीयकः स्तवक एष गतो मुदे स्यात्,
स्वर्गं गतस्य जननीजनकस्य तावत् ॥

बाल्यकाल में ही कामदेव जैसे महामल्ल को पछाड़ देनेवाले हे वर्धमान ! आपको मेरा बारम्बार नमस्कार हो । आप इक्ष्वाकुवंशरूपी वन के चन्दन हो । वन्दीय जनों द्वारा आप सदा वन्दनीय हो । इन्द्रमुकुट झुकाकर आपके चरणकमलों की सेवा में निरन्तर तत्पर—उपस्थित रहता है ॥ १७ ॥

आप मनुकुल के चूडामणि हो । विबुधजनों के मुकुट हो । नाथवंश-रूपी सरोवर के सुन्दर कमल हो । लिच्छवि गणतन्त्र के मण्डन हो एवं श्रमण धर्मरूप निलय के आप रत्नदीपक हो ॥ १८ ॥

हे वीरातिवीर श्री वर्धमान ! आपके भवभीतिविनाशक दोनों चरण मेरे हृदय में सदा विराजमान रहें क्योंकि जीवों को संसार रूपी समुद्र के पार करने में ये नौका के जैसे अवलम्बन स्वरूप हैं । अतः मेरी अन्तिम मनोकामना यही है कि प्रत्येक संसारी जीव इनकी छत्र छाया में रहकर अपनी दुखपरम्परा का विघात कर सत्यसुख का भोक्ता बने ।

तृतीय पुत्र सुरेशकुमार के जनक एवं मनवादेवी के पति मूलचन्द्र पण्डित के द्वारा निर्मित वर्धमानचम्पू काव्य में यह तृतीय स्तबक समाप्त ।

चतुर्थ स्तबक

विवाहोपक्रमः

येनाऽधारि महामहाव्रतमयः शीलोऽपवर्गप्रदः,
स्वर्गश्रीललनाकटाक्षकलितामनपेक्ष्य लावण्यताम् ।
तारुण्यं विगणय्य गण्यकृतिनाऽरण्यापगाम्भः समम्,
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं संचिन्त्य तस्मै नमः ॥ १ ॥

तारुण्ये जयिना स्मरं विजयिनं जित्वाऽथ भोगार्हके,
शीघ्रे येन महौजसाऽतितरसा तीर्थंकरैरादृता ।
दीक्षा, ऽक्षाश्वबलप्रसारशमने सुप्रग्रहप्रोपमा,
सोऽयं वस्त्रिशलात्मजो विभुवरो भूयान्ममव्याधिदः ॥ २ ॥

विवाहोपक्रम

जिसने जवानी को नदी के जल के समान अस्थिर समझकर और आयु को ओस की सलिल बिन्दु के जैसी मानकर महान् कठिन ब्रह्मचर्य महाव्रत का, जो कि अपवर्ग—मुक्ति का साधक है धारण किया—पालन किया, तथा जिसने स्वर्गीय श्रीरूपललना के द्वारा अभिलषित अपने सौन्दर्य की जरा भी परवाह नहीं की ऐसे उस वर्धमानकुमार को मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

भोगों को भोगने के योग्य भर जवानी में जिस विजयी वीर ने जगज्जयी कामदेव को जीतकर बड़े भारी पराक्रम के साथ बहुत ही जल्दी तीर्थंकरों द्वारा आदृत दैगम्बरी दीक्षा धारण की कि जो इन्द्रियरूपी घोड़ों के स्वच्छंद गमन रूपी बल के थामने में लगाम के जैसी मानी गई है ऐसा वह त्रिशला का इकलौता लाल आप सबकी व मेरी व्याधि का विनाश करनेवाला हो ॥ २ ॥

स्वात्मानंद प्रकाशान्निजहृदि समतावल्लरीवृद्धिपुष्टा–,
स्तुष्टाः शिष्टाभिराध्या विधृतशमदमाद्यैर्गुणैः सद्विशिष्टाः ।
हृष्टाश्चारित्रलब्ध्या विमलगुणगणान् निष्ठयाऽऽराधयन्तः,
सन्तः सन्तु प्रसन्ना ददतु मम शुभां बुद्धिमालामनन्ताम् ।। ३ ।।

पूर्वीयसंस्कारवशंगतो यो युवापि दीक्षां धृतवान् मनस्वी ।
सिद्धार्थसाम्राज्यमवेत्यकारां तं त्रैशलेयं प्रणमामि नित्यम् ।। ४ ।।

अथासीत्कंठीरवाकृतिरयं जन्मत एव सर्वाङ्गसुन्दरः साक्षात् पंचशर इव पश्यतां दृष्टौ तथापि युवावस्थया यदाऽप्यमाश्लिष्टस्तदा

वे सन्तजन—सद्गुरुदेव—जो कि अपने हृदय में स्वात्मानन्द के प्रकाश से समस्तजीवों पर समतारूपी वल्लरी—बेल—की वृद्धि से परिपुष्ट होते रहते हैं, सन्तोषामृत के पान से जो सदा तुष्ट बने रहते हैं, शिष्टजन जिनकी आराधना में अहर्निश लगे रहते हैं, जिनकी निर्मल आत्मा में शम-दम आदि जो कर्मों की निर्जरा के कारण हैं सदा अठखेलियां किया करते हैं और इसी कारण जो सज्जनोत्तम रूप से मान्य हो जाते हैं, चारित्र की निर्दोष आराधना से ही जो प्रसन्न चित्त रहते हैं एवं निष्ठापूर्वक और भी अनेक सद्गुणों की सेवा में जो अपने आपको समर्पण कर चुके होते हैं ऐसे वे महामहिमशाली सन्तजन मुझे प्रसन्न होकर ऐसी शुद्धबुद्धि रूप माला प्रदान करें जो कभी भी मुरझावे नहीं ।। ३ ।।

पूर्व भव के संस्कार के वशवर्ती हुए जिस युवा महावीर ने—वर्धमान ने—अल्पकाल में—८ वर्ष की अवस्था में विचारपूर्वक अणुव्रतरूप देश—चारित्र को धारण किया और वंश परम्परा से चले आये हुए सिद्धार्थ नरेश के साम्राज्य का परित्याग कर दिया ऐसे त्रिशला के लाडले लाल को मैं सदा नमस्कार करता हूं ।। ४ ।।

सिंह के समान बलिष्ठ आकृतिवाले वे वर्धमानकुमार यद्यपि जन्म से ही सर्वाङ्ग सुन्दर थे, अतः देखनेवालों की दृष्टि में वे साक्षात् कामदेव के

शाणोल्लिखितवज्रमिव निखिलाङ्गोपाङ्गेषु सौन्दर्यमुद्रोपेतो विशेषतो उज्ज्वलितः । अस्यासाधारणज्ञान—बल—वीर्य—पराक्रम—तेजस्तारुण्य-गरिममहिमा यत्र तत्र परितः प्रसृतः । अतोऽनेकेषां क्षितिभुजां स्वीय स्वीय सुताभिरनङ्गनाभिरिव कमनीयरूपाभिः सार्धं परिणयप्रस्तावास्तत्पितुः सिद्धार्थभूपतेः सविधे समागच्छन् । एतेषु कलिङ्गदेशाधिपतिरेको जितशत्रु विजितानेकशत्रुरप्यासीत् । आसीदस्यालयालङ्कारस्वरूपा सार्वाङ्गिकसौन्दर्यपरिष्कृता सद्गुणगणादायेव विधात्रा विनिर्मितरूपा भास्वराकारोपेता यशोदेति नाम्ना विख्याता सुता त्रिशला सुतोद्वाह योग्येति राज्ञा सिद्धार्थेन त्रिशलया महिष्या चैकमत्या स्वपुत्रस्य परिणय-

---

जैसे प्रतीत होते थे परन्तु फिर भी शाणोल्लिखित मणि के समान वे समस्त अंगोपांगों में और अधिक विशेष रूप से तब चमके जब वे युवावस्थापन्न बने । उनके असाधारण ज्ञान, बल, वीर्य, पराक्रम, तेज और तरुणाई के गौरव की महिमा अब इधर उधर चारों ओर फैल गई थी, इसलिए अनेक राजा अपनी-अपनी पुत्रियों के साथ वर्धमान कुमार का वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करने के लिए उनके पिताश्री के पास प्रस्ताव लेकर आने लगे । इनमें एक कलिङ्ग देश के अधिपति जितशत्रु ने भी अपनी पुत्री के साथ वर्धमान का वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रस्ताव सिद्धार्थ नरेश के पास भेजा । कन्या का नाम यशोदा था । यशोदा जितशत्रु के राजभवन की शोभारूप—अलंकार स्वरूप थी । इसके अंग-अंग से सौन्दर्य की आभा ऐसे चमकती थी मानो विधाता ने सद्गुणों को लेकर ही इसका रूप रचा हो । यह भास्वर आकारवाली, बड़ी सुहावनी एवं लुभावनी थी । वर्धमान–कुमार के यह योग्य है ऐसा विचारकर राजा सिद्धार्थ और त्रिशलारानी दोनों ने मिलकर यह निश्चय कर लिया था कि वर्धमानकुमार का विवाह

संबंधस्तयैवास्मा निर्णयोपेतो विहितः । तदनन्तरं सिद्धार्थः प्रभूतोत्साह-पूर्वकं तद्वैवाहिकसमारम्भे संलग्नोऽभवत् । यतस्तच्चेतसीयमेव बलिष्ठो-त्कंठाऽऽसीद् यदहं महोत्साहपूर्वकं पुत्रोद्वाहं विधास्य इति ।

वैवाहिकसमारंभानवलोकयता वर्धमानकुमारेण पृष्टस्तातः—तात ! किमर्थं भवद्भिरेते समारंभा प्रतन्यन्ते—तदोक्तं पित्रा—प्रियपुत्र ! त्वद्विवाह कृते । निशम्यैतज्जनकस्य वचो वर्धमानोभाणि—तात ! विवाह-महं नैव करिष्यामि । किमर्थं पुत्र ! परमसौभाग्यशालिना त्वयैव मुच्यते ।

यशोदा के साथ ही किया जावे । इस निश्चय के बाद सिद्धार्थ नरेश प्रबल उत्साह के साथ उनके विवाह की साधन सामग्री के जुटाने में व्यस्त रहने लगे क्योंकि उनके मन में यही एक प्रबल उत्कंठा थी कि वे बड़े ठाट-बाट के साथ ही अपने पुत्र वर्धमान का विवाह करेंगे ।

एक दिन की बात है कि वर्धमान कुमार ने वैवाहिक समारम्भ को जब देखा तो पिताश्री से पूछा—तात ! आप किसलिए इन समारम्भों में व्यस्त हो रहे हो ? पिता ने प्रत्युत्तर में कहा—प्रियपुत्र ! तुम्हारा विवाह होना है ना—इसलिए उसकी साधन सामग्री के जुटाने में मैं व्यस्त हो रहा हूं । पिता के ऐसे वचन सुनकर वर्धमान ने कहा—पिताजी—मैं विवाह नहीं करूँगा । पिता ने कहा—बेटा ! यह क्या कहते हो—विवाह नहीं करोगे—ऐसा क्यों ? तुम तो परम सौभाग्यशाली हो अतः तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये ।

अत्र समुचितं स्वोत्तरं प्रकाशयता कुमारेण विनम्रभावेन निजाभिप्रायः सुस्पष्ट शब्दैः सवितारं प्रति प्रकटीकृतः । स्वसुतविचारधारस्याऽवगतोऽपि पिता मोहात् सगद्गदकंठीभूय श्यामेवमुवाच, नन्दन ! चिरमभिलषितेन स्वोद्वाहेनास्मान् नन्दय । सफलयास्मदीयां चिरपोषिताशां सद्भावनां च । सेवस्व सांसारिकं सुखं, राज्यहर्यासनं चाध्यास्य प्रजाः पालय । यथाभिलषितं पश्चाद्धर्मंचर । नाहं प्रतिपन्थी भविष्यामि ।

किञ्चित्कालं निवस निलये पालयोपासकाख्यम्,
धर्मं पश्चाद् यतिवरवृषं साधय त्वं प्रमोदात् ।
मुक्त्वा सर्वान् प्रियसुत ! मदीयाभिलाषामपूर्णाम्,
पूर्णां कृत्वा सुखय निखिलान् दुःखदग्धान् स्वबन्धून ।। ५ ।।

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं सततं ते भवतात्त सुदर्शनम् ।

इस सम्बन्ध में समुचित उत्तर देते हुए कुमार ने बड़े विनम्र शब्दों में अपना अभिप्राय पिताजी को कह सुनाया । पुत्र की विचारधारा से अवगत हो जाने पर भी ममता के वशवर्ती होकर पिता ने गद्गदकंठ होकर पुत्र से कहा—बेटा ! चिरकाल से हमारी तो यही अभिलाषा थी कि हम तुम्हारा विवाह कर तुम्हें राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर । तुम आनन्दपूर्वक प्रजा का पालन करो । पश्चात् रुचि के अनुरूप धर्म का सेवन करो । मैं इस कार्य में तुम्हारा बाधक नहीं बनूंगा ।

अतः तुम कुछ समय तक घर पर रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करो । बाद में परिपक्व अवस्था हो जाने पर मुनिवर धर्म का—सकल संयम का—पालन करना । अभी तक पुत्र के प्रति जो पिता का कर्तव्य होता है उसे मैं पूर्णरूप से निभा नहीं पाया हूं । अतः इस अपने कर्तव्य को मैं निभा लूं ऐसी जो मेरी अभिलाषा है उसे तुम पूर्ण करो—अपूर्ण मत रहने दो । ये जो तुम्हारे और भी बन्धुजन हैं उन्हें भी सुखी करो । ।। ५ ।।

मैं तो यही चाहता हूं कि तुम्हारा अभिलषित मार्ग कल्याणकारी हो और हमें तुम्हारे पवित्र दर्शन निरन्तर होते रहें ।

इत्यर्धोक्ते सत्यागतमोहावेशेन निरुद्धकंठः सजलनयनो नृपोऽग्रे वक्तुं न शशाक । एवं विधां मोहसन्तुरितां पितुर्वचनरचनां समाकर्ण्य पारावारगंभीरो वर्धमानकुमारो मन्दस्मित कपटेन पीयूषपूरं विकिरन्निवेत्थं मोहप्रध्वंसिनी मुवाच वाचम् । तात ! निखिलाः संसारिणोऽसुभृतः कर्मबंधन निगडिता विस्मृत्य स्वकीयं स्वरूपं विविधां व्यसनपरंपरां भुंजते, कथमेते दुःखगर्तेभ्य उत्थिता भवेयुः, कथमिव वा वितथ सांसारिक सुख मान्यतोद्भूत विविध विधि बन्धेभ्यश्चैते विरहिता मुक्ता वाभ्युरीदृशं सन्मार्गं तान् बोधयितुमहमत्र वर्तमानपर्यायेऽवतीर्णोऽस्मि । अतः कथमहं तात ! स्वयं गृहस्थाश्रमबंधने निबद्धीभूतः पुरतः सन्मार्गस्य प्ररूपणां कर्तुं सक्षमो भविष्यामि । किञ्च—हिंसाज्ञानविभ्रमदुराचारात्याचारा येऽधुना प्रसरिता प्रचलिताश्च सन्ति तेषां निराकरणरूपं महत्कार्यं

इसके बाद सिद्धार्थ अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सके—क्योंकि बीच ही में आगतमोह के आवेग ने उनके कंठ को अवरुद्ध कर लिया । आँखें उनकी डबडबा आयीं । इस प्रकार की मोह से सनी हुई पिता की वाणी को सुनकर समुद्र के तुल्य गम्भीर वर्धमानकुमार ने मन्द मुसकान के बहाने मानो पीयूषरस को विकीर्ण करते हुए ही इस प्रकार से गम्भीर वाणी द्वारा अपना अभिप्राय पिताश्री से प्रकट किया—हे तात ! संसार के जितने भी प्राणी हैं वे सब कर्मरूप बन्धन से बन्धे हुए हैं तथा निजस्वरूप को भूलकर अनेकविध कष्टों को सहन कर रहे हैं । ये दुःखरूपी गर्तों से बाहर कैसे निकलें, कैसे ये झूठे सांसारिक सुखों को सच्चे सुखों की मान्यता में फंसाने-वाले कर्मों के बन्धन से रहित हों—मुक्त हों—ऐसे सन्मार्ग का उन्हें बोध कराने के लिए तात ! मैं इस वर्तमान पर्याय में अवतरित हुआ हूं । अतः हे जनक ! मैं कैसे अपने आपको गृहस्थाश्रमरूप बन्धन से जकड़ कर उनके समक्ष सन्मार्ग की प्ररूपणा करने के लिए समर्थ हो सकूंगा । किञ्च—इस समय हिंसा, अज्ञान, विभ्रम, दुराचार और अत्याचार फैल चुके हैं और इनका प्रचार भी हो रहा है, अतः इनके निराकरण करने का बहुत बड़ा

मत्संमुखे समुपस्थितं समस्ति । अतः कथय कथमहं तात ! कामराजस्य कैङ्कर्यमंगीकृत्य त्वदाज्ञावशवर्ती स्याम् । नाहं निरर्थकव्यापारेण स्व-शक्तेरपव्ययं कर्तुमीहे । भोगान् भुक्त्वा भोगाभिलाषा प्रशाम्यति मान्यतैषा जगज्जनानां तात ! वह्नेः प्रशमनाय घृताहुतिरिवानर्थावहा ।

रक्तेन दूषितं वस्त्रं यथा तात ! रक्तेन नहि शुद्ध्यति, तथैव विषयै-र्विषयाभिलाषा नैव प्रशान्ता भवति—प्रत्युत विवर्धते । सा तु तत्त्यागेनैव । अतोऽहं न कांक्षे राज्यं, न संध्यारागसमप्रभं भोगं, न विविधकृच्छ्र-परम्पराविवर्धनैकदक्षमापातमनोहरं चोद्वाहमिति सुस्पष्टमुक्तवतः, स्वध्येयसिद्ध्यर्थं स्वयमसिधारावद्धृतब्रह्मचर्यव्रतस्य स्वसुतस्य ज्ञान-

---

कार्य मेरे समक्ष उपस्थित है । इसलिए आप ही मुझे समझावें कि मैं कैसे कामराज की दासता स्वीकार कर आपकी आज्ञा की आराधना करूं । मैं निरर्थक व्यापार के द्वारा अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहता हूं । भोगों को भोग करके भोगाभिलाषा शान्त हो जाती है ऐसी जो जगत्-वर्ती जीवों की मान्यता है वह हे जनक ! वह्नि—अग्नि को शान्त करने के लिए उस पर प्रक्षिप्त की गई घृत की आहुति के समान अनर्थकारी ही है ।

अरे ! रक्त से लथपथ हुआ वस्त्र क्या कहीं रक्त से साफ होता है ? यदि नहीं होता है, तो इसी तरह विषयों के सेवन से विषयाभिलाषा भी शान्त नहीं होती है । उसकी शांति का उपाय तो उसका परित्याग करना ही है । अतः हे तात ! मैं न राज्य चाहता हूं, न संध्याराग के समान भोगों को चाहता हूं और न दुःखों की परम्परा बढ़ानेवाले इस आपात मनोहर वैवाहिक सम्बन्ध को ही चाहता हूं। इस प्रकार स्पष्ट वक्ता ब्रह्मचर्य व्रतधारी वर्धमान कुमार को अपने ध्येय की सिद्धि में अडिग देखकर और

गर्भितां वाचमित्थमुक्तां परिपीय पितृभ्यां विनिश्चितं यदयं परिणयबन्धनेन बद्धुं न शक्यते कथमपि । अतो यदस्मै रोचते तदेवायं कुर्यादिति । तदनन्तरं न तौ पितरौ तद्वियोगकातरौ विवाहकृते तं चोदयामासतुः । परं तूष्णीभावमास्थायैव संस्थितौ ।

ग्रैष्मतरणिवदुदिता तरुणावस्था यदा संजायते तदा सर्वेऽपि मोहिनो जीवाः स्मराज्ञावशवर्तिनो जायन्ते । कालेऽस्मिन् कामवासना प्रबलवेगशालिनी स्रोतस्विनीव तरितुमशक्योभयकूलंकषा, तद्वशंगताः केचित्तु स्वजीवितुमपि मुंचंति, वैभवं पाकं विवेकमपि परित्यजन्ति, शालीनतां विस्मरन्ति । मदोन्मत्तकरिण इव स्वात्मानं नानाविधव्यसनगर्तेषु

उनकी ज्ञानगर्भित वाणी को अच्छी तरह विचारकर माता-पिता ने यह निश्चय कर लिया कि अब यह विवाहरूप बन्धन से जकड़ा नहीं जा सकता । इसलिए जो इसको रुच रहा है वही इसे करने दिया जावे और इससे अब कुछ न कहा जावे । ऐसा समझकर उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध के लिए उन्हें फिर प्रेरित नहीं किया । दोनों शान्त होकर बैठ गये ।

जब ग्रीष्मावकाश के सूर्य के समान युवावस्था प्रकट होती है तब समस्त मोही जीव कामदेव की आज्ञा के आधीन हो जाया करते हैं । इस समय कामवासना प्रबल वेगवती हो जाया करती है और वह प्रबल प्रवाहवाली नदी के जैसी पार करने के अयोग्य हो जाती है । प्रबल प्रवाहवाली नदी जिस प्रकार अपने दोनों तटों को गिराती हुई बहती है उसी प्रकार कामी जन भी काम के प्रबल दाह से जब संतप्त हो जाता है तब वह भी अपनी आन-बान को, कुलपरम्परा को विसार देता है । कामरूपी वंचक की प्रपंचरचना से ठगाये हुए कितने ही जन अपने जीवन की भी परवाह नहीं करते, न वे वैभव की परवाह करते हैं और न भोजन की और न शालीनता की ही । मदोन्मत्त हाथी की तरह वे कामी जीव अपने आपको नाना

निपातयन्ति । कामं कुर्वन्तु साधारणजीवा मदनावेगनिरोधनेऽशक्ताः सन्तः सदाचारविवर्जिता निषिद्धमपि कृत्यं विधाय स्वामूल्यजीवनमपि विगर्हितमज्ञानाच्छादितमतित्वान्नात्र चित्रं भवन्तु वाते भ्रष्टा इतस्ततः । परन्तु पश्यन्तु स्वप्रबल पराक्रमेणादम्योत्साहेन च योऽजय्यशक्तिशालिनं कान्तारैकान्तविहारिणं केशरिणं मदोद्धतं च भीतिकरं द्विरदं विजित्य स्ववशमानयन्ति, बलिष्ठानामपि सुभटानां सैन्यं यः पराजित्य विजयश्रियं वृणोति, सोऽपि कामराजस्य प्रकृष्यमाणरागेण निर्जितस्तं विजेतुं सर्वथा-ऽशक्तो जायते । विगर्हितमपि कृत्यं कर्तुं न लज्जते । यद्यपि संसारस्थाः सर्वेपि नरनारी-पशुपक्षिणोऽस्यैव कैंकर्यं कुर्वन्ति । अस्याज्ञातो बहिर्भूतो नास्ति खलु कोऽपि जीवः । अस्मादेव कारणाद् यावज्जीवं कामपीडाप-नोदनार्थं नरनारीमिथुनं मिथो मिलित्वा मैथुनं कर्माचरति । यद्यपि

प्रकार के दुःखरूप गड्ढे में धकेल दिया करते हैं । भले ही चाहे ऐसे वे साधारण जीव मदन के आवेग को रोकने में असमर्थ हों—अर्थात् ऐसे जीव भले ही आचार-विचार से रहित होकर निषिद्ध कार्य करके स्वकीय अमूल्य जीवन को गर्हित बनालें तो इसमें कोई अचरज जैसी बात नहीं है, कारण कि उनकी बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ा रहता है; परन्तु जो प्रबल पराक्रमशाली हैं, अदम्य उत्साह के धनी हैं एवं अदम्य शक्तिशाली सिंह को जो कि एकान्त गहन वन में विचरण करता है तथा मदोन्मत्त भयंकर गजराज को परास्त कर अपने वश में कर लेता है तथा बलिष्ठ सुभटों की सेना को जीतकर जो विजयश्री का सवरण करते हैं, ऐसे वीर नररत्न भी कामराज के बढ़े हुए राग के आगे नतमस्तक—परास्त—हो जाते हैं—उसे वे परास्त नहीं कर पाते हैं । यद्यपि ये समस्त संसारी जीव—नरनारी, पशुपक्षी—इसी कामदेव की आराधना करने में मग्न रहते हैं । इसकी आज्ञा के बाहर रहनेवाला कोई भी संसारस्थ प्राणी नहीं है । इसी कारण जीवन-पर्यन्त काम पीड़ा को शान्त करने के लिए नर-नारी का जोड़ा परस्पर में मिलकर मैथुन कर्म का सेवन करते हैं । यद्यपि जगत के

जगज्जीवानामीदृशी यौवने सम्प्राप्ते सति वैषयिकवासना प्रबलवेगाद्-दुःस्थितिर्भवति। तथापि यूनोऽसाधारणपुंसो वर्धमानस्य चेतस्यास्या अदम्यायाः कामवासनायाः प्रभावोंऽशतोऽपि नाजायत, कारणं चात्रैवाहं मन्ये—

साङ्गा बन्धुकुटुम्बिनिकरा नो शक्तिमन्तोऽभवन्,
ध्येयाच्चालयितुं स्थिरावपि जवात् स्वान्तं यदीयम्।
वीरस्यास्य विचालने, कथमहं शक्तो भवेयं हहाऽ—
नङ्गस्त्वावितिं वीक्ष्य तं विजयिनं स कामिस्थितः॥ ६॥

जीवों की यौवन अवस्था के आने पर वैषयिक वासना के प्रबल आवेग से दुःस्थिति होती रहती है फिर भी जवानी में आये हुए असाधारण पुरुष वर्धमान कुमार के चित्त में इस अदम्य काम वासना का जो प्रभाव अंशतः भी नहीं हुआ मैं इसका यह कारण मानता हूं—

कामदेव ने ऐसा विचार किया होगा कि जब साक्षात् शरीरधारी बन्धुजन, माता-पिता आदि समस्त पारिवारिक जन भी जिसे अपने निश्चित ध्येय से विचलित नहीं कर सके तो मैं तो अनङ्ग हूं—बिना शरीर का हूं तब मेरी क्या हस्ती है जो विजयी वर्धमान कुमार को अपनी ओर खेंच सकूं। ऐसा विचार कर ही मानो वह वहां न जाकर अन्य प्राणियों में—कामीजनों में स्थित हो गया॥ ६॥

अथवा—

येनापूर्वमहौजसाऽतितरसा रागे प्रहारः कृतः,
चित्रं वाऽपि किमत्र मे च भवताद् यद्दुर्दशाऽपीदृशी ।
इत्येवं सहसा विचिन्त्य भयतो निर्वेदिनो वेदिनो,
वीराद् रागसखो ऽप्यधाद्विमुखतामस्माद् गतो रागिषु ॥ ७ ॥

श्रीवर्धमानकुमारेण तातं प्रतीदमप्युक्तम्—यथा—

दृष्ट्वा रुद्धान् हरिणनिवहान् जातवैराग्यरङ्गः,
प्राज्यं राज्यं परिणयविधिं चोग्रसेनात्मजां च ।
त्यक्त्वा स्वीयां जनकजननीं, मुक्तिकामस्तपस्यां,
नेमिश्चक्रेऽहमपि च तथा तां करिष्यामि तात ॥ ८ ॥

द्रव्यात्मना नास्ति च कोऽपि कस्य संबंधबन्धेन जनो निबद्धः ।
पर्यायदृष्ट्यैव च तात–पुत्राः संबंधिनोऽमीह भवन्ति जीवाः ॥ ९ ॥

अथवा—अपूर्वतेज के धनी जिस वर्धमानकुमार ने मेरे प्रिय सखा राग की ही जब दुर्दशा कर डाली है तो इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि मेरी भी उसी प्रकार से वे दुर्दशा कर डालेंगे। सो ऐसे ही विचार से वह कामदेव भव से विरक्त हुए आत्मवेदी उन वर्धमानकुमार के पास फटका तक नहीं, किन्तु रागियों के पास ही रह गया ॥ ७ ॥

श्रीवर्धमान ने पिताश्री से यह भी कहा—

जिस प्रकार नेमिनाथ भगवान् ने वाड़े में रोके गये हरिणों की करुण पुकार सुनकर अपना वैवाहिक सम्बन्ध छोड़ दिया, राज्यसिंहासन का परित्याग कर दिया, उग्रसेन नरेश की लाड़ली बेटी राजीमती का और माता-पिता आदि इष्ट पारिवारिकजनों का मोह छोड़ दिया एवं दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली, उसी तरह हे तात! मैं भी दीक्षा अंगीकार करूंगा ॥ ८ ॥

जब द्रव्य दृष्टि से विचार किया जाता है तो ये पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध बनते ही नहीं हैं। ये तो सब पर्याय दृष्टि का ही विलास है—तमाशा है ॥ ९ ॥

इत्थं वर्धमानकुमारेण निगदितां वाणीं निशम्य पितृभ्यां विचारितं—वर्धमानोऽयं सुकुमारः कुमारो यद्यप्यस्त्ययस्मदीयः पुत्रः, अस्मदपेक्षया च वयसि लघीयान्, तथापि स्वाचारविचारे ज्ञाने चावामतिशेते। अतोऽस्मै हिताहितयोः कर्तव्याकर्तव्योरुपदेशनिर्देशो न शोभते। सूर्याय प्रदीपप्रदर्शनमिव। रविर्यथा स्वयं प्रकाशशीलस्तथैवायमपि विवेकसुपुञ्जः। अतोऽस्मै शिक्षाकरणं जलेसलिलवर्षणमिव व्यर्थम्। अयं तु स्वयमेव विश्वस्य शिक्षको नास्य कश्चिदपि शिक्षाप्रदाता। असौ यमुद्देशमुद्दिश्यायं जगति समवतीर्णस्तमुद्देश्यमेवायं सुखेन साधयतु। आवाभ्यामस्मिन् पवित्रसमेऽस्य सुकार्ये प्रतिपन्थिभ्यां न भाव्यम्। एवं संप्रधार्य ताभ्यां स्वपरात्मकल्याणविधायिन्या दीक्षाया आज्ञा दत्ता। उक्तं च—"अयि! साधय साधयेप्सितं, न वयं स्मस्तव मार्गरोधकाः"। तदनन्तरं कलिङ्गदेशनरेशस्य जितशत्रोर्वर्धमानकुमारेण सत्रा यशोदाया वैवाहिकप्रस्तावोऽस्वीकारोक्त्या निषिद्धः।

वर्धमानकुमार ने जब ऐसा कहा तो सुनकर माता-पिता ने सोचा कि यद्यपि यह वर्धमानकुमार सुकुमार है और लौकिक दृष्टि से मेरा पुत्र है अतः इस दृष्टि से तो हम लोगों की अपेक्षा वय में लघु है, किन्तु अपने आचार-विचार से एवं ज्ञान से हम सब से ज्येष्ठ है इसलिए इसे हित और अहित का, कर्तव्य और अकर्तव्य का उपदेश देना हम लोगों को शोभा नहीं देता। वह तो सूर्य को दीपक दिखाने जैसा होगा। सूर्य जिस प्रकार स्वयं प्रकाशशील है, उसी प्रकार यह भी विवेक का सुपुञ्ज है, अतः इसे शिक्षा देना जल में जल-वर्षण के जैसा निरर्थक ही है। यह तो स्वतः ही विश्व का शिक्षक है। इसे शिक्षा देनेवाला इस समय यहां कोई और दूसरा नहीं है। इसलिए जिस उद्देश्य को लेकर यह यहाँ अवतरित हुआ है उस उद्देश्य को यह सुखपूर्वक सिद्ध करे। इस विषय में हम किसी भी तरह से इनके विरोधी नहीं होना चाहते हैं। ऐसा निश्चय करके उन्होंने वर्धमानकुमार को स्व-पर हितसाधक दीक्षा की अनुमति दे दी और ऐसा कहा—"आप अपना अभिलषित सफल करें हम आपके मार्ग में बाधक नहीं हैं।" इसके बाद उन्होंने कलिङ्ग देशाधिपति द्वारा भेजे गये वर्धमानकुमार के साथ यशोदा के विवाह का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया।

तत्पश्चात् तु कुमारोऽसौ न पुनर्विवाहकृते सङ्केतभाषयाऽपि ताभ्यामुक्तः प्रेरितश्चेति ।

तीर्थंकरवर्धमानकुमारस्य जनकः सिद्धार्थः कुण्डनपुरस्य शासकस्तन्मातामहश्च चेटको नृपतिर्वैशालिगणतन्त्रस्य प्रमुखो नायकोऽनेकेषां क्षितीश्वराणामधिपतिश्चासीत् । अतः सर्वाणि राज्यसुखानि वर्धमानकुमारेण प्राप्तान्यासन्, न कस्यापि वस्तुनोऽल्पीयानप्यभावस्तस्मै कृते तत्रासीत् । शारीरिक-मानसिकव्यथा-कथापि तत्राश्यानतोऽपि श्रोतु दुर्लभाऽऽसीत् । भवेद् यदि स विवाहार्थी, तदा देवदुर्लभाभिः क्षितिपत्याम्मजाभिः सार्कं परिणयप्रस्तावं स्वीकृत्य स्वोद्वाहं च कारयित्वा तत्सुखमनुभूय कुण्डनपुराधिपतित्वसिंहासनमलंकृत्य क्षितिपतिपदं लभेत ।

इसके बाद फिर उन्होंने कुमार से किसी भी तरह की संकेत भाषा संक के द्वारा भी पुनः विवाह के लिए नहीं कहा और न उन्हें मजबूर ही किया ।

तीर्थंकर वर्धमानकुमार के पिता सिद्धार्थ कुण्डनपुर के शासक थे और उनके नाना राजा चेटक वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख नायक थे एवं अनेक राजाओं के अधिपति भी थे । इस दृष्टि से वर्धमानकुमार को सब सुख प्राप्त थे । उनके पास किसी भी वस्तु की थोड़ी सी भी कमी नहीं थी । न कोई शारीरिक कष्ट था और न कोई चिन्ता । सब प्रकार से राजपुत्र होने के कारण बीसों अंगुलियां घृत में थीं । यदि वे विवाह करना चाहते तो देवलोक में भी दुर्लभ रूपवाली राजकन्याओं के साथ परिणय का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते और अपना विवाह करवाकर वैवाहिक सुख भोगकर एवं कुण्डनपुर के नरेश बनकर क्षितिपति पद को प्राप्त कर लेते । परन्तु इन

परन्त्वेतेषु सांसारिक कृत्येष्वशरणेष्वशुभेष्वनित्येष्वनात्मनीनेषु तस्य स्वभावत एवाभिरुचिर्नाऽभवत्, अतः स यथा सलिलस्थितं सरसिजं सलिलेनालिप्तं भवति तथैव मनसा वाचा कर्मणाऽपि ब्रह्मचर्यव्रतरतोऽसौ सर्वसुखसाधनसम्पन्नोऽपि समीहापूर्तिपूरकपदार्थसंभृते राजभवने निवसन्नपि सांसारिकमोहमायाभिर्निर्लिप्तोऽभवत् ।

धन्या सा जननी पिताऽपि सुकृती गेहं च तत्पावनम्,
धन्या सा घटिका रसाऽपि महिता ब्रह्मासरो वा महान् ।
धन्यः श्रेष्ठतमः क्षणः स विभुना यो जन्मनाऽलंकृतः,
श्रीतीर्थंकरनामकर्मदधता वीरेण कर्मारिणा ।। १० ।।

धन्यास्ते जगतीतले नरवरा येऽन्यस्य दुःखेन वै,
आर्यंत व्यथिता "समस्ति मयि तद्" बुद्ध्वेति तद्धानये ।
स्वीयं सर्वसुखं विहाय नितरां चेष्टन्त इत्थं च ते,
देवा एव च मानवतनौ सर्वत्र लब्धादरः ।। ११ ।।

सांसारिक अशरणभूत, अशुभ, अनित्य और अनात्मनीन कार्यों में उनकी स्वभावतः रंचमात्र भी अभिरुचि नहीं थी । इसलिये वे जल में रहते हुए भी उससे अलिप्त कमल की तरह मन से, वचन से एवं काय से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए सर्वसुख साधन सम्पन्न होते हुए प्रत्येक इच्छा की पूर्तिपरक राजमहल में निवास करते हुए भी वहां की किसी भी वस्तु से इन्हें माया-मोह नहीं था ।

वह माता धन्य है, वह पिता भी भाग्यशाली है, वह घर भी पवित्र है, वह घड़ी भी सर्वोत्तम है, वह भूमि पूज्य है, वह दिवस भी महान् है, वह क्षण भी सबसे श्रेष्ठ है कि जो कर्म शत्रु के प्रबल वैरी भगवान् महावीर के जन्ममंगल से अलंकृत हुआ है—मंगलमय हुआ है ।। १० ।।

संसार में उन नर रत्नों का जन्मधन्य है जो दूसरों के दुःखों को अपना ही दुःख मानते हैं एवं उनके दुःखों को दूर करने के लिए अपने सुखों को छोड़ देते हैं । ऐसे वे मानव-तिलक मानव शरीर में देवरूप ही होते हैं । संसार उनका स्वागत अपने पलक-पांवड़े बिछाकर करता है ।। ११ ।।

यथा सुवर्णं पुटपाकयोगाद्विनिर्मलं सल्लभते प्रतिष्ठाम् ।
तथैव कैवल्यकृतेऽयमात्मा तपोऽग्निना शुद्ध्यति तीव्रभासा ।। १२ ।।

मुमुक्षुभिस्तीव्रतमातपेन तपोऽग्निनात्मा परिशोधनीयः ।
इत्थं विमृश्यैव स वीरवीरो विहाय राज्यं सुतपांसि तेपे ।। १३ ।।

अखण्डब्रह्मचर्यव्रतोपगूहितोऽयं अत्र राज्यभवने द्वादशदिवसोपेताष्टमासाधिकाष्टाष्टाविंशतिवर्षाणि यावदुवास ।

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तमतुलं संधारयन्नादरात्,
स्वस्थानोचितसद्‌गुणैश्च विविधैः स्वं मोदतो वासयन् ।
वैराग्योद्‌भवकारकैर्हितवहैर्नित्यं वचोभिः श्रितः,
स श्रीमांस्त्रिशलात्मजो भवतु मे मोहान्धकारापहः ।। १४ ।।

जैसे सुवर्ण पुटपाक के योग से निर्मल बनकर प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी तपरूपी अग्नि के द्वारा शुद्ध होकर कैवल्यरूप जो अपना स्वभाव है उसे प्राप्त कर लेता है ।। १२ ।।

"मुमुक्षुजीव का यह कर्तव्य है कि वह तीव्रतम आतापवाली तपस्यारूपी अग्नि के द्वारा अपने आपका संशोधन करे" ऐसा विचार करके ही वीराग्रणी वर्धमानकुमार ने राज्य का परित्याग कर अनेक तपों को तपा—दिगम्बरी दीक्षा अंगीकृत की ।। १३ ।।

अखण्डब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वर्धमानकुमार राजभवन में ८ माह १२ दिन अधिक २८ वर्ष तक रहे ।

निर्दोषरीति से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आदरपूर्वक पालन करते हुए त्रिशला के लाल ने त्याग, तपस्या के लायक अनेक सद्‌गुणों से अपने आपको वासित किया एवं हितकारक ऐसी वैराग्यवर्धक दिव्यध्वनि से जिसने जीवों को सम्बोधित किया ऐसे वे त्रिशला के प्यारे पुत्र मेरे मोहान्धकार को नाश करनेवाले हों ।। १४ ।।

व्यथां स्वकीयां च तृणाय मत्वा मद्वर्धनेऽभून्महती विदग्धा ।
दयावती सा जननी मदीया दिवंगतां तां प्रणमामि नित्यम् ।। १५ ।।

इत्थं महेशजनकेन विनिर्मितेऽस्मिन्,
श्रीमूलचन्द्रविदुषा मनवावरेण ।
तुर्यो गतः स्तबक एष मनोमुदे स्यात्,
स्वर्गं गतस्य जननीजनकस्य तावत् ।।

चतुर्थः स्तबकः समाप्तः

जिस दयालु माता ने मेरा पालन-पोषण बड़ी सावधानी से किया उस दिवंगत माता को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं ।। १५ ।।

चतुर्थ पुत्र महेश के पिता एवं मनवादेवी के पति मूलचन्द्र पण्डित के द्वारा निर्मित इस वर्धमानचम्पू नामक प्रबन्ध में यह चतुर्थ स्तबक समाप्त हुआ ।

पंचमः स्तबकः

संसाराद्विरक्तिः

संसारे भ्रमता मया बहुविधा एकेन्द्रियाद्या भवाः,
प्राप्तास्तेषु न कुत्रचिच्च समभूत् स्वोत्थानभावोद्गतिः ।
प्राप्तेऽस्मिंश्च विमुक्तिदायकपदे मे साऽधुनाऽजायत,
सेव्यस्तर्हि न जायते क्षणमपि द्वेष्यः प्रमादोऽत्र वै ।। १ ।।

संसारोऽयं विविधविधया संभृतो दृश्यतेऽत्र,
स्वेष्टानां हा ! समयसमये विप्रयोगः पुरस्तात् ।
संयोगश्च प्रतिपलमिहानिष्टजीवेन सार्धम्,
नैराकुल्यं कथमिव भवेत् संसृतौ मानवानाम् ।। २ ।।

पंचम स्तबक

संसार से वैराग्य

संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने अनेक प्रकार की एकेन्द्रियादिक पर्यायों को धारण किया है। उन पर्यायों में से किसी भी पर्याय में "मैं अपना उद्धार करूँ" ऐसा भाव जागृत नहीं हुआ। अब मुझे पूर्णरूप से आत्मशोधन जिसमें हो सकता है ऐसी यह मानव पर्याय प्राप्त हुई है अतः आत्मसाधना करने में मुझे एक क्षण का भी शत्रु रूप प्रमाद नहीं करना चाहिए ।। १ ।।

यह संसार अनेक प्रकार की घटनाओं से भरा हुआ है। देखो— समय समय पर यहां देखते-देखते इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होता रहता है अतः संसारी मानवों की परिणति में निराकुलता कैसे आ सकती है ? ।। २ ।।

माता मृत्वा भवति भगिनी सापि पुत्री सुतापि,
मृत्वा पौत्री भवति भवने पर्यये न स्थिरत्वम् ।
नानायोनावहमपि तथाऽनादिकालाद्भ्रमन् सन्,
संप्राप्तोऽत्र प्रबलसुकृतात्त प्रमादो विधेयः ॥ ३ ॥

इत्थं देशावधिना विमृश्य वीरो बभूव निर्विण्णः ।
संसृतिभोगतनुभ्यो विध्यरिहनने महोत्साहः ॥ ४ ॥

अथान्येद्युर्वर्धमानस्य स्वभवने सुखासीनस्य सहसा स्वीयपूर्वभवस्य संस्मरणं संजातम् । तथाऽस्य चेतसि विज्ञानमीदृशं समुत्पन्नं, यदहं पूर्वभवे द्वाविंशत्यब्धिप्रमाणायुष्कोऽच्युतदेवलोकाधिपतिरिन्द्र आसम् । तत्र

यहां तो माता मरकर भगिनी, भगिनी मरकर पुत्री, और पुत्री मरकर पौत्री हो जाती है । इस तरह कोई भी सांसारिक पर्याय एक रूप में स्थिर नहीं रहती है । अनादिकाल से मैं भी नाना पर्यायों में जन्ममरण करता हुआ किसी प्रबल पुण्य के उदय से इस मानव पर्याय में आया हूं अतः आत्मसाधना में प्रमाद करना श्रेयस्कर नहीं है ॥ ३ ॥

इस प्रकार जन्मजन्य देशावधि ज्ञान के द्वारा विचारकर वर्धमान-कुमार संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये तथा कर्मरूप शत्रुओं को विनष्ट करने के निमित्त उनमें प्रबल उत्साह बढ़ गया ॥ ४ ॥

एक दिन की बात है जबकि वे अपने भवन में सुखशान्ति में मग्न हुए विराजमान थे, सहसा उन्हें अपने पूर्वभव स्मृत हो आये । उससे उन्हें यह जानने में देर नहीं लगी कि मैं पूर्वभव में २२ सागर की आयुवाला अच्युत स्वर्ग का इन्द्र था । वहां मैंने जीवन पर्यन्त दिव्य भोगोपभोगों को,

मया यावज्जीवं त्रिधा नरभवदुर्लभा विविधा भोगोपभोगा भुक्ताः । इतः पूर्वं संयमाराधनाया बलेन मया तीर्थंकरनामकर्म निबद्धम् । अस्मिन्नुपात्ते भवेऽस्योदयो भवितुमर्हः । अधुना विवेकबोधविकला जना दुष्कृत्या-नामनाचाराणां पुष्कलानां प्रचारं प्रसारं च कुर्वन्त इतस्ततो भ्रमन्तो दरीदृश्यन्ते । अतस्तेषां निरसनं परमावश्यकम् । यावदहं संयमं न ग्रहीष्यामि तावन्मे न भविष्यात्मशोधनम् । अतस्तस्मादृते कथमहं रागद्वेष-विहीनः सन् ज्ञाता द्रष्टा स्यामस्मात्कारणात्पूर्णशुद्धत्व बुद्धत्वाप्त्यै मया यतनीयमिति ।

विश्वकल्याणकामनया प्रेरितान्तःकरणेन मया मोहममतापङ्काद्-हिर्निर्गत्यात्मस्वरूपो धर्मोनूनमाराधनीयस्तदैवात्मस्वरूपविकसितो मे कर्ममलापगमाद् भवेत् ।

जो इस मानव पर्याय में सर्वथा दुर्लभ हैं, भोगा है । इसके पहिले मैंने संयम की आराधना की थी । उसके प्रभाव से मुझे तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध हो गया था । अब इस वर्तमान भव में उसका उदय होनेवाला है । इस समय जो जन विवेक से विहीन होकर अपार दुष्कृत्यों एवं अनाचारों के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं, उन्हें इन कुकृत्यों से रोकना परमावश्यक है । जब तक मैं संयम ग्रहण नहीं करूँगा, तब तक मेरी आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकेगी और उसके बिना राग-द्वेष विहीन नहीं हो सकूँगा । इसके बिना ज्ञाता-द्रष्टा नहीं हो सकता । अतः पूर्ण शुद्ध-बुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिये ।

इत्थं विचिन्तयतो वर्धमानस्यान्तःकरणे राज्यादिकां निखिलां विभूतिं तृणाय मन्यमानस्य सर्वथा मुक्तिकमनीयकान्ता दूतीभूतो वैराग्योऽजनि । सत्यं—वैराग्यमन्तरेण कर्मणां प्रक्षयो नैव भवितुमर्हः । आबाधाकालमतिक्रम्योदयागतेषु कर्मसु जीवानामवस्थासु विविधं वैचित्र्यमित्थं जायमानं समवलोक्यते ।

प्रातर्यत्र मृदंगनादनिवहैर्नीतो महानुत्सवः,
सायं तत्र हहामहारवयुतं संश्रूयते क्रन्दनम् ।
क्वाप्यास्ते नयनाभिरामतरुणीनां गानसन्दोहम्,
क्वाप्यास्ते शवदर्शनं पितृवने संदह्यमानं हहा ! ॥ ५ ॥

इस प्रकार विचारधारा में निमग्न वर्धमानकुमार के अन्तःकरण में जो कि बाह्य विभूति रूप राज्य आदि को तृण के समान निःसार मान रहे थे सर्व प्रकार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। यह वैराग्य ही मुक्ति रूपी कमनीय कान्ता का स्वामी बनाने में दूती का काम करता है । यह सत्य है कि कर्मों का क्षय करानेवाला यदि कोई साधन है तो वह वैराग्य ही है । आबाधाकाल के बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तब जीवों की अवस्थाओं में विचित्र प्रकार का परिवर्तन इस प्रकार से होता हुआ देखा जाता है—

प्रातःकाल जहां गाजेबाजों की गड़गड़ाहट के साथ अनेक उत्सव हुए थे, हम देखते हैं कि सायंकाल वहीं पर आर्तध्वनि के साथ रोना धोना मचा हुआ है । कहीं पर सौन्दर्य विभूषित ललनाओं के मधुर गीत सुनाई देते हैं, तो कहीं पर श्मसान में जलते हुए मुर्दे देखने में आते हैं ॥ ५ ॥

श्वानः कुत्र च भक्षयन्ति विविधं मिष्ठान्नदुग्धादिकम्,
केचिद्दीनजनाः स्वपन्ति निशि च क्षुत्क्षामकंठोदराः ।
केचित्षड्रसभोजनानि मुदिता नित्यं लभन्ते नराः,
कृत्वाऽपीहपरिश्रमं न लभते पर्याप्तमन्नं जनैः ॥ ६ ॥

सन्तीह नवानि केऽपि वसनान्यनर्घ्याणि नित्यं जनाः,
जीर्णान्यप्यपरे न शीतसमये संप्राप्नुवन्त्यंगिनः ।
केचिच्छीलविभूषिता अपि सदा सीदन्ति वामे विधौ,
पापासक्तधियोऽपि केऽपि सततं दैवप्रिया मोदिनः ॥ ७ ॥

यत्रासन्ननिशं मृदंगनादनिवहैः ध्वानैरनेकोत्सवाः,
रम्यस्त्रीकरपल्लवैर्मणिमयी रङ्गावलिः कल्पिता ।
दैवे हा ! प्रतिकूलतामुपगते ध्वस्ता नभः स्पर्शिणः,
हर्म्यास्ते ऽपिमहीक्षितां शिवरवस्तत्राद्यनौ श्रूयते ॥ ८ ॥

कहीं पर कुत्तों को दूधमलाई के लड्डू खिलाये जाते हैं तो कहीं पर दीनहीन मानव भूखे पेट रहकर विकल होते रहते हैं । कहीं पर कितने ही मानव षड्रसमिश्रित भोजन करते हैं तो कहीं पर पूर्ण परिश्रम करके भी कितने ही मानव पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं कर पाते हैं ॥ ६ ॥

कितने ही मानव यहां ऐसे भी हैं जो प्रतिदिन बेशकीमती नवीन-नवीन वस्त्र पहिनते हैं और कितने ही ऐसे भी हैं कि जिन्हें शीतकाल में भी जीर्ण-शीर्ण वस्त्र नहीं मिलते । कितने ही शीलशिरोमणि जन ऐसे भी देखने में आते हैं जो रात-दिन दुःखित रहते हैं और कितने ही पापी जन दैव की अनुकूलता से मौजमजा उड़ाते हुए देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

जिन राजमहलों में हमेशा चौघड़िया बजा करता था, मनोमुग्ध-कारिणी सुन्दरियां मणियों के चौक पूरा करती थीं, जब वहां दैव की अकृपा बरसी तब वे नभस्तलस्पर्शी राजमहल जमींदोज हो गये और अब उनमें केवल शृगालों की ध्वनियां ही सुनाई देती हैं ॥ ८ ॥

लक्ष्मी च ललनेव पादयुगयोः संवाहनं सादरम् ।
कृत्वा नृत्यति तस्य तस्य पुरतो यस्यानुकूलो विधिः ।
किञ्चान्यैर्भवभोग्यसौख्यमतुलं तस्यैव संपद्यते,
यस्योपर्य निशं सरोजसदृशो दृष्टिप्रसारो विधेः ॥ ९ ॥

दिव्यस्त्रीनयनावलीभिरभितः संवीक्षिता भुञ्जते,
सौख्यानीह सुदुर्लभानि कृतिनः केचिद् यथेच्छं नराः ।
केचिद्वामविधौ विनैव वनितां तान्ताः सदा दुःखिनः,
वैकल्यं कलयन्ति हा ! पररमासंवीक्षणैरात्मनि ॥ १० ॥

तल्पस्था अपि केऽपि दैवदयया नित्यं प्रमोदान्विताः,
निर्द्रव्याश्च तदीयदृष्ट्यपथिका उद्योगिनो दुःस्थिताः ।
गुण्यग्र्या अपि मानवा विधिवशान्निर्वाहचिन्ताङ्किताः,
जायन्ते, ननु केऽपि निर्गुणजना नित्योत्सवा नन्दिनः ॥ ११ ॥

भाग्य जिनके अनुकूल होता है उनके दोनों चरणों की सेवा ललना जैसी बनकर लक्ष्मी बड़े आदर के साथ करती है। वह उनके समक्ष नाचती रहती है। अधिक क्या कहा जावे—सांसारिक जितने भी सुख हैं वे उसी जीव को प्राप्त होते हैं जिसके ऊपर भाग्य की कमल जैसी कोमल दृष्टि है ॥ ९ ॥

जिसके ऊपर दैव की दया होती है, ऐसा भाग्यशाली मानव ही संसार के देव-दुर्लभ सुखों को इच्छानुसार भोगता है और जिसका दैव अनुकूल नहीं होता वे धर्मपत्नी के बिना दुःखित होते रहते हैं और पर पत्नी को देखदेखकर अपने आप में दुर्विचारों से विकल होते रहते हैं ॥१०॥

जिनके ऊपर दैव की परम कृपा बरसती रहती है, वे बिना किसी परिश्रम के भी पलंग पर बैठे चैन की वंशी बजाया करते हैं। जो व्यक्ति इसकी कृपा से वञ्चित होते हैं वे परिश्रम करते हुए भी लाभ से विहीन रहते हैं। उनका जीवन दुःखमय बना रहता है। भले ही वे गुणियों में भी श्रेष्ठ हों पर उन्हें पेट भरने के भी लाले पड़े रहते हैं। दैव की अनुकूलता में निर्गुण जन भी सदा निराले ठाट बाट वाले देखे जाते हैं ॥ ११ ॥

शिष्टायते यत्कृपया ऽप्यशिष्टः शिष्टोऽपि वा यत्प्रतिकूलतायाम् ।
अशिष्टवद्भाति, विधेः प्रभावो ह्यचिन्तनीयोऽस्ति विचिन्तयन्तु ॥ १२ ॥

केचित्पुत्रविहीनाः संक्लिष्टाः सन्ति, केऽपि तत्सहिताः ।
मृत्यौ तस्य च केचित् केचिद्दुर्मुक्तितस्तस्य ॥ १३ ॥

वैराग्योद्भूत्यनन्तरमेव सकलशशिबिम्बाभवदना एकभवावतारिणो ब्रह्मलोकान्तनिवासिनो बालब्रह्मचारिणो निलिम्पा लौकान्तिकास्तन्निकटे समाविभूताः । विततहर्षोत्कर्षनद्धान्तराः प्रोचुस्ते वर्धमानवैराग्यशालिनं वर्धमानं—भगवन् !

पुण्यरूप दैव की महरबानी से अशिष्ट भी शिष्ट और शिष्ट भी अशिष्ट बन जाया करता है । सच है विधि का प्रभाव अचिन्त्य है ॥१२॥

संसार की गति ही बड़ी विचित्र है, देखो ! कोई पुत्र नहीं है तो दुःखी है, कोई पुत्र है तो दुःखी है । कोई होकर उसके कालकवलित हो जाने पर दुःखी है, कोई उसके दुर्व्यवहार से दुःखी है ॥ १३ ॥

अतः सांसारिक मार्ग में पतित जितने भी प्राणी हैं वे सब आकुलित हैं । निराकुलता एक क्षण की भी नहीं है । बिना निराकुल हुए आत्म-सुख-शान्ति मिल नहीं सकती । इस प्रकार वैराग्य की जब प्रभु को उद्भूति हुई तो उसी समय ब्रह्मलोक के अन्त में रहनेवाले लौकान्तिक देव जो कि बाल ब्रह्मचारी होते हैं और मनुष्य का एक भव लेकर मोक्षगामी होते हैं महावीर प्रभु के निकट आये । इनका मुख-मण्डल पूर्णमासी के चन्द्रमा के जैसा था । हर्षोत्कर्ष में मग्न हुए इन्होंने प्रभु से इस प्रकार कहा—

संसारिण इमे सर्वे मोहान्धतमसि स्थिताः ।
ज्ञानप्रकाशदानाय तेभ्यो दीक्षां समुद्वह ।। १४ ।।

भवता सांसारिकमोहममतायाः परित्यागविषयको विमर्शः स्वचेतस्याचरितो, यश्च सकलसंयमाराधनस्य विनिश्चयो विहितः, सोऽधुना द्रव्यक्षेत्रकालभावानुरूपः समीचीनो मार्ग एषः । एतस्मादेव मुक्ति सौधाधिपतित्वप्रदायको भवतो मनोरथः सेत्स्यति । एकान्ततः श्रेयस्तरोऽयं विमर्शो विनिश्चयश्चेति । श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरस्यैव प्रसादात्ते नूनं भविष्यति निष्प्रत्यूहा । भविष्यति च तपसा त्यागेन संयमेन चामराजर-पदप्राप्तिस्तेऽचिरेण । विधास्यति भवान् विश्वस्य कल्याणं ज्ञाता द्रष्टा

भगवन् ! ये संसारी जीव मोहरूपी अन्धकार में डूबे हुए हैं । अतः आप इन्हें ज्ञानरूपी प्रकाश देने के लिए दीक्षा धारण करें ।। १४ ।।

आपने जो सांसारिक मोह-ममता के परित्याग का विचार किया तथा सकल संयम की आराधना करने का निश्चय किया है सो यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप बहुत ही अच्छा अवसर है । इसी से आपका मनोरथ जो कि आपको मुक्ति में ले जाने के लिए रथ के समान है, सिद्ध होगा । आपका यह विचार और निश्चय एकान्ततः सर्वोत्तम है । श्रेयोमार्ग की संसिद्धि आपको इसी के प्रसाद से हो सकेगी । तप, त्याग एवं संयम से ही आपको अजर अमर पद का लाभ बहुत ही शीघ्र होनेवाला है । आपके द्वारा विश्व का कल्याण भी ज्ञाता द्रष्टा होने पर ही होगा ।

च संभूय। खंडिताखंडितशर्करास्वादां लौकान्तकान्तां मधुरां गिरमिमां निशम्य वर्धमानस्य वैराग्यं संवर्द्धितं सत् दृढ़तरं जातम्। अतस्तत्क्षणमेव कुण्डनपुरस्थं नंद्यावर्ताभिधानं राजभवनं विहाय वनं गन्तुं मनसि तेन पूर्णरूपेण विनिश्चयो व्यधायि। यतस्तत्रैवैकान्ते ममैकान्ततो भविष्यत्यात्मसाधनेति प्रबुद्ध्यैव। दीक्षोन्मुखं स्वसुतं संवीक्ष्य नृपतिना सिद्धार्थेन तदा द्विजेभ्यः किमिच्छकं दानं प्रदत्तम्। तस्मिन्नेव काले संक्रन्दनस्य सिंहासनं सकम्पं जातम्। तदा तेन स्वावधिज्ञानेन विज्ञातं यत्तीर्थंकरस्य वर्धमानस्य वैराग्यभावना दीक्षासंमुखा संवृता। अतस्तत्कालमेवासौ वृन्दारकवृन्दैः वरितः परिवृतः सन् राजभवनस्य प्राङ्गणं समागतः। तत्र समागतेन तेन कृतो महान् हर्षोत्सवः। हर्षोत्कर्षसमाकुले तस्मिन् समयेऽतुलभक्तिभावावनतान्तरंगैः सेन्द्रादिभिरित्थं स्वस्वान्ते भावनाऽकारि—

जिसके समक्ष मिश्री की मधुरिमा भी फीकी हो जाती है ऐसी लौकान्तिक देवों की माधुर्य गुणोपेत वाणी को सुनकर वर्धमान कुमार का वृद्धिगत वैराग्य दृढ़तर हो गया। वे उसी क्षण कुण्डनपुरस्थ नंद्यावर्त नामक राजभवन से बाहर निकले और तपोवन की ओर जाने को उद्यत हुए। उन्होंने चित्त में ऐसा विचार किया—तपोवन ही आत्मसाधना का एक एकान्ततः साधनास्थल है अतः वहीं पर बिना किसी विघ्नबाधा के आत्मसाधना हो सकेगी।

सिद्धार्थ नरेश ने जब अपने पुत्र को दीक्षा ग्रहण करने के लिए कटिबद्ध देखा तो उन्होंने द्विजों को किमिच्छक दान दिया।

इसी समय इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। सिंहासन के कंपित होते ही इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के द्वारा जान लिया कि वर्धमानकुमार की भावना दीक्षा धारण करने की ओर आकृष्ट हो चुकी है। तब वह चारों ओर से देवमण्डली से घिरा हुआ राजमहल के प्रांगण में आकर उपस्थित हो गया। वहां आते ही उसने सर्वप्रथम हर्षोत्सव करना प्रारम्भ किया। इस उत्सव में सम्मिलित हुए देवादिकों ने अतुल भक्ति से भरकर—विभोर होकर—ऐसी भावना अपने-अपने चित्त में की—

स्वर्गस्थैस्तैर्विषयनिचयैर्नाथ ! नश्चित्तवृत्तिः,
ग्रस्ता, सेव्यां विरतिमधुना सेवितुं ह्यक्षमाः स्मः ।
त्वत्सान्निध्याद्वयमपि विभो ! त्वादृशाः संभवेम,
प्रच्युत्वाऽस्मात्स्मनसि महती कामनैषाऽस्ति सम्यक् ॥१५॥

केनचित् कृतैषा कामना—

वह्निस्तापो जिनवर ! यथा कञ्चनं स्वर्णवर्णम्,
अन्तर्भूत्वा मलविरहितं सर्वशुद्धं करोति ।
स्वामिन्नेवं यदि मम मनोगेहमन्तर्गतः स्याः,
नूनं चित्तं भवति विमलं त्वद्गुणोद्गीतितापात् ॥ १६ ॥

हे नाथ ! स्वर्गीय विषय-भोगों से हमारी चित्तवृत्ति ग्रस्त रहती है । सेवन करने योग्य संयम हम लोग इसीलिए धारण नहीं कर पाते । अतः ऐसी कामना है कि यहां से जब च्युत हों तो मानव पर्याय पाकर आपके चरण सान्निध्य में रहकर आप जैसे बनें ॥ १५ ॥

किसी ने ऐसी भावना की—

जिस प्रकार अग्नि मलिन सुवर्ण को निर्मल कर देती है उसी प्रकार हे नाथ ! आपका यदि मेरे मनोमन्दिर में निवास हो जाता है तो मैं भी निर्मल हो सकता हूं ॥ १६ ॥

संसारेऽस्मिन् विषमविषमे भोगवाञ्छाग्निदग्धो,
जीवो दुःखी भवति नितरां भोग्यधातात्प्यनाप्त्याम् ।
योनावस्यामविरतियुतायां करीवाङ्कुशेन,
हीनस्तावद् भ्रमति विषयेष्विन्द्रियाणां यथेच्छम् ।। १७ ।।

अतः—

लप्स्ये कदा तद्दिवसं पवित्रम्,
मुक्त्यङ्गनाया नरजन्म लब्ध्वा ।
कर्मप्रणाशं विरतिप्रभावाद्,
विधाय पाणिग्रहणं करिष्ये ।। १८ ।।

पुण्यकर्मकृतं सौख्यं स्वर्गीयं नास्ति वंचना ।
तथापि नास्ति तन्नित्यमाधेरेव विवर्धकम् ।। १९ ।।

यह संसार अत्यन्त विषम है । भोग भोगने की इच्छारूप अग्नि से यह सदा जलता रहता है । संसारी जीव भोग्य वस्तु के विनाश हो जाने पर अत्यन्त दुःखित होता रहता है । उसकी प्राप्ति के साधन जुटाने में, या उसकी प्राप्ति नहीं होने पर आकुल-व्याकुल होता रहता है । जिस देवयोनि में मैं वर्तमान में हूं यह तो अविरति से युक्त है अतः यहां पर भी जीव निराकुल नहीं बन पाता है । यहां पर भी वह निरङ्कुश हाथी की तरह अपनी प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में इच्छानुसार चक्कर काटा करता है ।। १७ ।।

इसलिए ऐसा वह पवित्र दिन कब आवेगा जबकि मैं मनुष्य जन्म प्राप्त कर और उसमें विरति की आराधना के प्रभाव से कर्मों को नाश करके मुक्तिरूपी अंगना का पाणिग्रहण करूंगा ? ।। १८ ।।

यहां जो स्वर्गीय सुख मुझे प्राप्त हुआ है । वह पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुआ है यह सत्य है पर वह नित्य नहीं है, केवल मानसिक चिन्ता को ही बढ़ाने वाला है—एक दूसरे की विभूति को देखकर यहां भी देव झूरते रहते हैं ।। १९ ।।

अन्यत्याखलु सौख्याद् देवानां न जायते निराकुलता।
सौख्यं नैराकुल्यं यथा भवेत्तथा प्रयतितव्यम् ॥ २० ॥

ईदृग्विचारपरिपूरितमानसैस्तैर्देवैस्त्रिभागसमये नरजन्मबद्धम्।
कैश्चिच्च, सत्यमिदमस्ति भवेद्भवस्य प्रध्वंसिनी बलवती खलु भावनैषा ॥ २१ ॥

अथानन्तरमेतद्वृत्तान्तेन परिचिता त्रिशला पुत्रस्नेहवशंगता विह्वला जाता। विचारितं तया—मदीयोऽयं सुकुमाराङ्गको राजभवने समुत्पन्नस्तत्रैव संवर्धितस्तत्रैव लालितः पोषितश्च। हा! हन्त! दिगम्बरो भूत्वा कथमयं शीतोष्णकालयोः शीतातपबाधां सहिष्यति? कथं चोष्णीषरिक्तेन शिरसा पततो नीहारबिन्दुनिकरान् सहिष्यति? कथं वा

यहाँ के सुखों से देवों में निराकुलता नहीं आ सकती, निराकुलता आये बिना सच्चा सुख होता नहीं है। इसलिए निराकुल सुख जैसे बने वैसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २० ॥

इस प्रकार के विचार कितने ही देवों के हुए। उन्होंने अपनी भुज्यमान आयु के त्रिभाग में मनुष्य आयु का बंध कर लिया। यह बात सच है—ऐसी बलवती भावना जीव के भव की—जन्ममरणादि रूप संसार की—नाश करनेवाली हो जाती है ॥ २१ ॥

इसके बाद जब त्रिशला इस वृत्तान्त से परिचित हुई तब वह पुत्रस्नेह के अधीन होने के कारण विह्वल हो गई। उसने उस क्षण विचार किया—मेरा यह पुत्र राजमहल में उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त कोमल शरीरवाला है, राजमहल में ही पला-पुषा है, वहीं पर उसका लालन पालन हुआ है। हाय! अब नग्न होकर कैसे यह शीत, उष्ण की बाधा को सहन करेगा? मस्तक पर वर्षा की बूँदों से रक्षा करने का कोई साधन इसके पास है नहीं। जब ठण्डी-ठण्डी बर्फयुक्त—ओले सहित बूँदें इसके मस्तक पर

वनपर्वतानां कंटकावलिसमाकीर्णायां धरित्र्यां पादत्राणविहीनः पदन्यासं विधास्यति ? हा ! हन्त ! हन्त ! क्वेदं कठोरातिकठोरं तपश्चरणं क्व चास्य मसृणाङ्गमिति चेतसि स्वकपोलकल्पनया जायमाना भावना विविधसंकल्पविकल्पस्वरूपा ममतापाशनिबद्धा संप्रधार्य मोहाधीना सती मूर्च्छिताऽभवत् । पार्श्ववर्तिभिः पारिवारिकजनैर्विहितशीतलोपचाराव यदा सुलब्धबोधा बभूव तदा पूर्वत एव समागतैः सेन्द्रैरित्थमभाणि ।

चिन्ता कार्या जननि ! सुभगे ! न त्वया चास्य काचित् ।
अस्मिन् काले जगति न बली कोऽपि तुल्योऽस्त्यनेन ।
शक्रेणासौ सुरगिरिभुवि क्षीरपाथोधितोयैः,
सुस्नातोऽभूदचलितधृतिः सोऽत्र चिन्त्यं कथं स्यात् ।। २२ ।।

पड़ेगी तब उन्हें यह कैसे सहेगा ? पादचारी होने के कारण अब बिना उपानत् के यह चलेगा तब इसके पैरों में कांटे चुभेंगे तो फिर यह वन पर्वत की कंटकाकीर्ण भूमि में कैसे चलेगा ? हाय ! कहां तो मेरे लाल का अत्यन्त कोमल शरीर और कहां यह अति कठोर तपश्चरण ? इस प्रकार की अपनी ही कल्पना से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के संकल्पों-विकल्पों को करती हुई वह त्रिशला माता मोहाधीन होकर उसी क्षण मूर्च्छित हो गई । उसे मूर्च्छित हुई देखकर पार्श्ववर्तीपारिवारिकजनों ने शीतलोपचार करके उसे सचेत किया । सचेत होने पर पहिले से आये हुए देवादिकों ने उसे यों समझाया—

हे भाग्यशालिनी माता ! तुम इस अपने पुत्र की दीक्षा के मांगलिक कार्य में चिन्तित मत बनो क्योंकि यह इस काल में बहुत अधिक बलशाली है । इसके जैसा और कोई बली नहीं है । जब यह सुमेरु पर्वत पर शक्र के द्वारा किये गये क्षीरसागर के जल के अभिषेक के समय धैर्य से विचलित नहीं हुआ, तब यह आगत परीषहों एवं उपसर्गों से चलायमान कैसे हो सकता है ? ।। २२ ।।

हर्षस्थाने महाशोकः किमर्थं तन्यते त्वया ।
मातस्त्वमेव धन्यासि ययेदृक्पुत्र उद्गतः ॥ २३ ॥

धन्या प्रसूस्त्वमेकैव धन्यस्तेऽयं सुतोऽतुलः,
जननीजनकौ येन गणनापदमास्थितौ ॥ २४ ॥

सुतः सपूतो गदितः स एव यस्मिन् प्रजाते गणनां प्रयाति ।
वंशोऽथजननीजनकश्च लोके स्वान्योपकारे सततं सुचित्तः ॥ २५ ॥

यस्य कुर्वन्ति कैङ्कर्यं सुरा मुदितमानसाः ।
वैराग्ये चरतस्तस्य बाधकः को भविष्यति ॥ २६ ॥

हे माता ! तुम्हें तो बड़ी खुशी होनी चाहिये, फिर हर्ष के स्थान में यह शोक कैसा ? हे माता ! तू धन्य है जिसने ऐसे सुपुत्र को जन्म दिया ॥ २३ ॥

और यह आपका पुत्र भी धन्य है जिसके समान और पुत्र नहीं । माता-पिता को जो गणनीय पद पर स्थापित कर देता है वही तो सपूत माना जाता है ॥ २४ ॥

जिसके जन्म लेने पर वंश की उन्नति हो—ख्याति हो—माता पिता का नाम दुनिया में अमर हो और जो अपने हित के अलावा जगत् का हित-कर्ता हो वही पुत्र सपूत कहा गया है । यह आपका ऐसा ही पुत्र है ॥२५॥

जिसकी दासता करके देव अपना अहोभाग्य मानते हैं, भला—सोचो तो सही वैराग्यमार्ग में विचरण करनेवाले उसके रास्ते में कौन बाधा पहुंचा सकता है ? ॥ २६ ॥

सदायमम्ब ! तनूजोऽपूर्वादम्यबलेन समाढ्यः धीराणां च धौरेयो वज्रवृषभनाराचसंहननसहितोऽस्ति नास्य कापि क्वापि च चिन्ता चेतसि त्वया विधेया । शीतातपबाधया नायं प्रबाधितो भविष्यति । न चायं भयंकरेभ्योऽपि परीषहेभ्यश्चोपसर्गेभ्यः पतितेभ्यस्तत्रभवानचलितधैर्यो भेष्यति । यस्मादधिकं महोन्नतं वा पदं किमप्यन्यन्नास्ति तत्पदं सर्वश्रेष्ठं लब्धुमयं गृहान्निर्गतोऽतस्त्रिलोकपूजितचरणारविन्दसुताम्ब ! चिन्ताक्लान्तं स्वान्तं मा कुरु । नायं केवलं त्वदीयः सुतएकाक्येव संसारसागरमुत्तीर्य मुक्तिं प्रयास्यति किन्त्वसंख्यानप्यसुमतो मुक्तिलाभान्वितान् विधास्यति । जननि ! मोहावरणं विघटय ।

हे माता ! तुम्हारा यह सपूत अदम्य अपूर्व बल से परिपूर्ण है । धीरवीरों में यह अग्रगण्य है । वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी है अतः तुम्हें इसकी किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये । शीत एवं आताप की बाधा इसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती है । यह कितनी भी भयंकर से भयंकर परीषह और उपसर्ग के आजाने पर अपने पद से रंचमात्र भी चलित नहीं होगा । यह जो गृह का परित्याग कर तपोवन में प्रविष्ट हो रहा है उसका कारण यह है कि यह उस पद को प्राप्त करना चाहता है जिससे कोई और पद श्रेष्ठ नहीं है । इसलिए हे त्रिलोक-पूजित चरणकमलवाले सुत की माँ ! तुम अपने मानस को चिन्ता से क्लान्त मत करो । हे माँ ! तुम ऐसा मत समझो कि यह आपका बेटा ही केवल मुक्तिपथ का राही बनकर संसार-समुद्र से अपने आपको पार उतारेगा और मुक्तिपद को प्राप्त करेगा किन्तु और भी जो असंख्य जीव संसार में निमग्न हैं उन्हें भी यह मुक्तिपथ का पथिक बनाकर मुक्ति प्राप्ति के लाभ से अन्वित करेगा । हे जननी ! मोह के आवरण को दूर करो ।

निगोदराशेर्व्यवहारराशौ निमित्तमासाद्य समागतेन ।
यथाकथंचिन्नरजन्मलब्धं व्यथा न जीवस्य तथाऽपि नष्टा ।। २७ ।।

विचार्यतां कारणमत्र किंवा यदस्य संसारकथाऽवशिष्टा ।
कथं न संसारभवोऽस्य नष्टो मनुष्यपर्यायमुपागतस्य ।। २८ ।।

केनापराधेन अङ्गीकृतोऽसौ जीवोऽप्रशस्तास्रवकारणं किम् ।
मुहुर्मुहुर्वा प्रतिबोधितोऽपि कथं न सन्मार्गरतिं दधाति ।। २९ ।।

इत्थं पृष्टा जननी यदा न किञ्चिज्जगाद तदा वर्धमानेन संबोधनार्थमिदमग्रे निगदितम्—

हे माता ! यह जीव निगोद राशि से किसी निमित्त के बल पर व्यवहार राशि में आकर बड़ी मुश्किल से मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, फिर भी यह अपनी व्यथा की कथा को नष्ट नहीं कर पा रहा है ।। २७ ।।

सो हे मां ! सोचो इसका कारण क्या है ? ऐसा इसके द्वारा कौनसा अपराध बन गया है कि जिसकी वजह से यह अज्ञानी बना हुआ है और रातदिन अशुभ कर्मों के आस्रव का कर्ता हो रहा है । इसका कारण क्या है ? इस सम्बन्ध में इसे बारम्बार समझाया भी जाता है तब भी यह सचेत नहीं होता और सन्मार्ग की ओर नहीं झुकता है । मां ! इन सब बातों का तुम स्वयं विचार करो ।। २८–२९ ।।

इस प्रकार जब वर्धमान कुमार ने माता से पूछा तो उसने इन्हें जब कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तब वर्धमान कुमार ने उसे पुनः सम्बोधनार्थ इस तरह से आगे और कहा —

संयोगिनो ये परिणामभाजो भावा ध्रुवास्तेन विनश्वरस्वात् ।
तथापि तान् स्वान् परिकल्प्य मोहात् तेषां व्यये दुःखमुपैति जीवः ॥ ३० ॥

मोहेन धृतिसंबद्धस्य जीवस्य सो द्वावपि न स्वभावौ ।
विभावभावौ भवदुःखहेतू संसारसंवर्धकतायतोऽत्र ॥ ३१ ॥

एकत्र रागं ह्यपरत्र कुर्वन् द्वेषं भवं नाल्पमसौ करोति ।
मनुष्यपर्यायमुपागतस्य लाभो न कोऽप्यस्य बभूव तस्मात् ॥ ३२ ॥

माँ ! जितने भी संयोगी पदार्थ हैं वे सब परिणमनशील हैं । कोई भी ध्रुव नहीं है क्योंकि द्रव्य की पर्यायें विनाशशील हैं । तब भी मोही जीव उन्हें अपनी मानता है और उनके परिवर्तन में मोह के कारण दुःखी होता है ॥ ३० ॥

जीव की ऐसी स्थिति न होने का कारण मोह—उसके साथ जो लगाव है वह है—अनादिकाल से जीव के साथ लगा हुआ जो मोह—राग—है वही पर पदार्थों की "ये मेरे हैं" ऐसी मान्यता करवाता है । राग और द्वेष जीव के स्वभाव नहीं हैं—विभाव हैं और ये दोनों ही भवदुःख के कारण हैं ये जीव के संसार-वर्धक हैं ॥ ३१ ॥

जीव की कहीं राग परिणति होती है, किसी के साथ द्वेष परिणति होती है । यही परिणति तो जीव के संसार की अल्पता नहीं होने देती है । मनुष्य पर्याय पाकर भी यदि जीव ने अपने संसार को अल्प नहीं किया तो मनुष्य पर्याय पाने का उसे क्या लाभ मिला ॥ ३२ ॥

न कोऽपि कस्यास्ति सुतो न माता,
भ्राता पिता, मोहनृपस्य लीला ।
संबंधबंधा निखिलाः कृतेऽस्य,
भूतार्थदृष्ट्या स्वयमेक एव ।। ३३ ।।

जीवो विमोहेन परान् स्वभिन्नान्,
संयोगिनः स्वान् परिकल्प्य, तेषाम् ।
योगे वियोगे सुखदुःखभावत्वाद्
बध्नाति कर्माणि नवानि मातः ।। ३४ ।।

मातस्त्वमेव परिचिन्तय कस्य कोऽत्र, संयोगिनां नियमतोऽस्ति वियोग इत्थं ।
चित्ते विचिन्त्य शिथिली कुरु मोहजालं, मह्यं ह्यनुज्ञां जननि प्रदेहि ।।३५।।

इस संसार में न कोई किसी की माता है न कोई किसी का पिता, न कोई किसी का पुत्र है न कोई किसी का भाई, ये जितने भी सम्बन्ध हैं वे सब मोह की लीला—तमाशे—रूप ही हैं । यथार्थ दृष्टि से विचार करने पर तो यह आत्मा स्वयं अकेला ही है ।। ३३ ।।

मोह से विमोहित हुआ यह जीव अपने से सर्वथा भिन्न संयोगी पदार्थों को अपना मानकर उनके योग में हर्षित और वियोग में दुःखित होता रहता है और नवीन कर्मों का बंध करता रहता है ।। ३४ ।।

हे माता ! तुम स्वयं इस बात का विचार करो, यहां कौन किसका है । जो ये संयोगी पदार्थ हैं उनका तो वियोग होना ही है । ऐसा सोचकर इस मोहजाल को तुम शिथिल करो और मुझे तपोवन में प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान करो ।। ३५ ।।

मुग्धप्रतारणपरायणमोहशत्रुं,
जित्वा, निजात्महितलीनमना भवेयम् ।
आज्ञां प्रदेहि जननि ! त्वमतश्च मह्यं,
शीघ्रं, न मोहवशतोऽत्र निरोधिका स्याः ॥३६॥

चक्राधिपैर्यैरनिशं सुखस्थै—
दिनस्य रात्रेरपि भेदभावः ।
नाज्ञायि, तेऽप्यायुषो ह्यवसाने,
गताः क्व कालेन विचूर्णिता स्युः ॥ ३७ ॥

द्विषत्कुलाङ्गार निभा भ्रुवोश्च,
विकारतस्त्रसित वीरवाराः ।
यमेन ते चूर्णितमानश्रृङ्गाः,
गताः ! क्व कालेन विनीयमानाः ॥ ३८ ॥

हे माता ! मैं मुग्ध जनों को प्रतारण करने में तत्पर ऐसे मोहरूपी शत्रु को जीतकर अपनी आत्मा का हित करने में तत्पर होना चाहता हूं । इसलिए हे माता ! तुम मुझे तपोवन में प्रवेश करने की शीघ्र आज्ञा प्रदान करो, मोह के वश होकर मुझे रोको मत ॥ ३६ ॥

निरन्तर सुख में आपाद मग्न हुए वे चक्रवर्ती भी जिन्हें सूर्य के उदय और अस्त होने का समय भी ज्ञात नहीं हो पाता था, आयु के समाप्त हो जाने पर काल के द्वारा चकनाचूर कर दिये गये, वे कहां गये इसका कोई पता नहीं ॥ ३७ ॥

शत्रुओं के लिए जो धधकती हुई अग्नि के जैसे थे तथा जिनकी तिरछी भ्रू को देखकर बड़े-बड़े वीर दहल जाते थे, जब यमराज ने उन्हें अपने वश में कर लिया तो उनका अभिमान शिखर धराशायी हो गया और वे काल-कवलित होकर कहां गये इसका पता भी नहीं है ॥ ३८ ॥

येषां यशोभिर्धवलीकृताशा यान् वीक्ष्य देवा अपि मोदिनःस्युः ।
अखर्वगर्वोन्नतमस्तकास्ते कालेन नीताः क्व गता न वेद्मि ॥ ३९ ॥

माता पिता मित्र सुतात्मजाश्च भ्राता स्वपत्नी च मनस्विनस्ते ।
गताः क्व कालेन विनिर्दयेन हृता, चिरस्थोऽत्र न कोऽपि भावः ॥ ४० ॥

यैस्त्रा वयं पांशुरता अभूम यैस्ते ममाग्रे ननु पश्यतो हा !
गता यमद्वारमितो विमुच्य रमां च रामां च सुतां सविश्रीम् ॥ ४१ ॥

इत्थं विमोहं परिहृत्य शत्रुं विचार्य संसारपरिस्थितिं स्वम् ।
दीक्षां समादित्सुमम् स्वपुत्रं विलोक्य सामोदमना भवाम्ब ॥ ४२ ॥

जिनके यश से चारों दिशाएँ धवलित हो रही थीं और जिन्हें देखकर देव तक भी हर्षित हो उठते थे तथा जिनका मस्तक अखर्व गर्व उत्तुंग बना रहता था उन्हें भी काल ने अपना कलेवा बना लिया और वे कहां गये मैं नहीं जानता हूं ॥ ३९ ॥

माता, पिता, मित्र, सुता, पुत्र, भ्राता, पत्नी और मनस्वी जन इन सबको जब निर्दयी काल ने नहीं छोड़ा तो इससे यही जानना चाहिये कि यहां कोई भी पदार्थ चिरस्थायी नहीं है ॥ ४० ॥

जिनके साथ हम धूलि में खेले वे मेरे देखते-देखते ही रमा, रामा, पुत्री और माता को बिलखती छोड़कर यमराज के द्वार पर पहुँच चुके हैं ॥ ४१ ॥

हे माता ! इस प्रकार की सांसारिक परिस्थिति का विचार करके तुम्हें इस मोह रूपी शत्रु को दूर कर देना चाहिये और दीक्षा ग्रहण करने की मेरी उत्कण्ठा जानकर तुम्हें हर्षित होना चाहिये ॥ ४२ ॥

इत्थं स्वजननीं पितरं वेश्याम् प्रियजनांश्च प्रबोध्याश्वास्य च स्वभवनाद्बहिरिव निर्मोकात् स बहिरागच्छत् । सद्बोधप्रबोधप्रीणित-सद्बन्धुः सर्वैः सानन्दं विसर्जितोऽसौ जयघोषपूर्वं नृपैः परिवृढैस्ततो विद्याधराधिपैस्ततश्चानिमिषाधीशैः स्वस्कंधमारोपितां चन्द्रप्रभाख्यां शिबिकामधिरूढा वैशालीतो मध्यमध्येन संवाह्यमानो ज्ञातृखण्डाभिधानं तपोवनं संप्राप । आसीत्तत्र्या वनश्रीः प्रसूनौघैः पल्लवैश्च प्रफुल्लिता भूरपि भूरिभिर्यत्र तत्रोद्गतैर्हरितांकुरैः श्यामला, निर्बाधगत्या प्रवहमानः शुद्धः शीतलः समीरः, अशान्तिकारकस्य जनकोलाहलस्य, चेतसि विक्षेप-विधायकस्य च पदार्थसार्थस्याभावः । तस्मिन् शान्ते कान्ते च निर्जने कान्तारे सा शिबिका तैरानीय स्वस्कंधादुत्तारिता नीचैश्च धृता । वर्द्ध-मानमहोत्साहोऽसौ वर्धमानकुमारो महोत्साहपूर्वकं शिबिकातो

इस प्रकार अपने माता-पिता और प्रियजनों को समझा बुझाकर और उन्हें धैर्य बंधाकर वे वर्धमान कुमार काचली से जैसे सर्प बाहर निकल जाता है उसी तरह अपने भवन से बाहर आ गये । सद्बोधवाणी से जिन्हें संतुष्ट कर दिया गया है ऐसे बन्धुजनों ने इन्हें आनन्दपूर्वक तपोवन जाने की शुभ सहमति प्रदान की । वर्धमान उसी समय चन्द्रप्रभा पालकी पर आरूढ हो गये । सबसे पहिले उस पालकी को जयघोषपूर्वक नरपतियों ने बाद में विद्याधरों ने और इसके अनन्तर देवों के स्वामियों ने अपने-अपने कंधों पर उठाया । वैशाली के ठीक बीचों-बीच मार्ग से होकर वे उस पालकी को लेकर ज्ञातृखण्ड नाम के तपोवन में पहुंचे । वहां की शोभा ही निराली थी । वनश्री पुष्पों और पल्लवों से प्रफुल्लित हो रही थी । भूमि भी इधर उधर के प्रदेशों में उत्पन्न हुए दूर्वा के हरे-हरे अंकुरों से श्यामल बनी हुई थी । निर्बाध गति से शुद्ध शीतल मन्द समीर बह रहा था । अशांति का कारण जन—कोलाहल एवं चित्त में चञ्चलता उत्पन्न कर देने वाला ऐसा कोई भी पदार्थ वहां नहीं था । उस शान्त सुहावने निर्जन वन में वह शिविका उन्होंने अपने कंधों से उतारकर नीचे रख दी । वर्धमान महोत्साहमंडित वे वर्धमान कुमार बड़े आनन्द से उस शिविका से बाहिर

बहिरवततार । आसीत्तत्र स्वच्छकारण्ये शिला । तदुपरि शच्या रत्नचूर्णेन कलाकृतिसमन्वितमेकं विरचितं स्वस्तिकं—तदुपरि तीर्थंकरो वर्द्धमानस्तस्थौ । तत्र तस्थुषा तेन स्वाङ्गाद् धृतानि सर्वाणि वस्त्राभूषणान्यनर्घ्याण्युत्तारितानि । धृतं च कृत्रिमं वेषं परिहृत्य प्राकृतिकं स्वतन्त्रं यथाजातरूपं श्रामण्यम् । कृष्णाः कुटिलाश्च केशाः क्लेशसमा मूलादुत्पाटिताः पंचभिमुष्टिभिरेव । मुनिजनानामियं केशोत्पाटनक्रिया क्रियमाणा शारीरिकमोहममतापरित्यागसूचिका भवति ।

तदनन्तरं तेन "नमः सिद्धेभ्यः" एवं विधं समुच्चार्य सिद्धान् सकलकर्मकान्तार विदग्धान् प्रणम्य पंचमहाव्रतानि मयूरपिच्छिका कमण्डलुश्च देध्ने । प्रत्याख्याय निखिलं सावद्यं योगं पद्मासनस्थेनात्मध्यानरूपसामायिके तल्लीनताङ्गीकृता ।

आये—उतरे । वहां वन में एक शिला थी । उस पर इन्द्राणी ने रत्नों के चूर्ण से कलाकृति युक्त एक स्वस्तिक बनाया । उस पर तीर्थंकर वर्धमान विराजमान हो गये । वहां बैठकर उन्होंने अपने शरीर पर से पहिरे हुए वस्त्र और आभूषणों को उतारा और कृत्रिम वेष का परित्याग करके प्राकृतिक स्वतन्त्र यथाजात रूपवाली श्रामण्य अवस्था धारण कर ली । काले कुटिल—घुंघराले—केशों को उन्होंने क्लेश के समान जड़मूल से पांच मुट्ठियों से उखाड़ दिया । यह पंचमुट्ठिकेशलोंचक्रिया शरीर के प्रति मोहममता के अभाव की सूचक होती है ।

इसके अनन्तर उन्होंने "नमः सिद्धेभ्यः" सिद्धों को नमस्कार करके पांच महाव्रतों को, मयूरपिच्छिका को और कमण्डलु को धारण कर लिया एवं यावज्जीवन सर्व सावद्य योग का परित्याग कर आत्मध्यानरूप सामायिक में वे पद्मासन से विराजमान हो गये ।

तान् समुत्पाटितान् कचान् मघवा स्वकरकुशेशयस्थाने विधाय मणि-ज्वलत्पटलपेटिकायां निधाय क्षीरवारिराशौ स्वयं प्राक्षिपत् ।

प्रभोरयं दीक्षाकालो मार्गशीर्षस्य कृष्णदशम्यां तिथौ हस्तोत्तरर्क्षयो-र्मध्यमायां शशिनि समाश्रिते समजायत । इत्थं दीक्षोत्सवं महता संरंभेण सानन्दं विधाय सर्वे सुरेशा सेन्द्राश्च तथा नरा नरेशाश्च विद्याधराः स्वस्वाधिष्ठानं समाजग्मुः । यदाऽयं बाह्यपदार्थविचिन्तनप्रसक्तां मानसीं वृत्तिं निरुध्याचलासनेन संस्थित्य तीर्थंकरो महावीरः स्वात्मचिन्तने संमग्नोऽभूत्तदैवास्य चतुर्थो मनःपर्ययाख्यो बोधो समजनि केवलज्ञान सत्यङ्कारस्वरूपः ।

उन उत्पाटित केशों को इन्द्र ने अपने हस्तकमल में लेकर मणियों के चमकते हुए पिटारे में रखा और क्षीरसागर में प्रक्षिप्त कर दिया ।

यह प्रभु की दीक्षा का समय मार्गशीर्ष माह के कृष्णपक्ष की दशमी तिथि का है । उस समय और उत्तरा नक्षत्र के मध्य भाग में चन्द्रमा का योग था । इस प्रकार दीक्षा के उत्सव को बड़े भारी उत्साह के साथ सुसम्पन्न करके समस्त सुरेश, देव, मनुष्य और विद्याधर अपने-अपने स्थान पर चले गये । जिस समय प्रभु वर्धमान बाह्य पदार्थ के चिन्तवन में प्रसक्त मानसिक वृत्ति का निरोध करके अचलासन से विराजमान होकर स्वात्म-चिन्तवन में मग्न हुए तब उसी समय इन्हें चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया । यह ज्ञान केवलज्ञान की साई रूप होता है । अर्थात् मनःपर्ययज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जीव को नियमतः केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।

इत्थं पूर्वभवस्मृतेः समभवज्ज्ञानप्रकर्षो हृदि,
तस्माद्योऽजनि मुक्तिमार्गपथिको वैराग्यरागाच्युतः ।
हित्वा वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं स्थिति श्रद्दधत्,
मुक्तिस्त्रीपदलिप्सया विजयतां सिद्धार्थभूपात्मजः ॥ ४३ ॥

दैगम्बरीं विना दीक्षामात्मशुद्धिर्न जायते ।
तच्छुद्धिमन्तरा नैव कर्मनाशो भवेत्क्वचित् ॥ ४४ ॥
मुक्तिलाभो विना नाशात् कर्मणां नैव संभवेत् ।
इत्थं विचिन्त्य वीरेण दीक्षा दैगम्बरी धृता ॥ ४५ ॥

"सरस्वतीपुत्र" इति प्रसिद्ध्या विपश्चितां योऽत्र बभूव मान्यः,
अम्बादिदासान्तपदोऽपगूढो विद्यागुरुर्मे जयताद्दयालुः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार पूर्वभव की स्मृति से जिन्हें ज्ञान का प्रकर्ष हुआ और इसी कारण जो मुक्तिमार्ग के पथिक बने एवं जिन्होंने वैषयिक सुखों को हेय और आत्मोत्थ सुख को उपादेय माना ऐसे वे सिद्धार्थ नरेश के प्रियपुत्र सदा जयवन्त रहें ॥ ४३ ॥

दिगम्बर दीक्षा के बिना पूर्णरूप से आत्मशुद्धि नहीं होती है। इसके बिना कर्मों का नाश नहीं होता है। कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति का लाभ नहीं होता है। ऐसा विचार करके ही उन सिद्धार्थ के इकलौते लाल वीर वर्धमान कुमार ने दैगम्बरी दीक्षा धारण की ॥ ४४–४५ ॥

ये सरस्वती के पुत्र हैं इस रूप से जिन्हें विद्वानों ने सन्मान दिया–ऐसे वे मेरे विद्यागुरु पूज्य अम्बादास शास्त्री सदा जयवंत रहें ॥ ४६ ॥

शान्ती – सुशीला – सविता–सरोज–,
ख्यानां सुतानां जनकेन दृब्धे ।
काव्ये गतः पंचम एष रम्यः,
स्तवोऽस्तु विद्वज्जनचित्तहारी ॥ ४७ ॥

मातस्त्वया मम कृतोऽस्ति महोपकारः,
तस्मै कृते प्रतिदिनं प्रणमामि तेऽङ्घ्रिम् ।
स्वर्गस्थिता त्वमधुनासि–तथापि पाणौ,
मोदादिमां कृतिमहं च समर्पयामि ॥ ४८ ॥

पंचमः स्तवकः समाप्तः

शान्ती, सुशीला, सविता और सरोज के पिता के द्वारा रचित इस काव्य में यह पंचम स्तबक समाप्त हुआ । यह विद्वज्जनों के चित्त को प्रमोददाता हो ॥ ४७ ॥

हे मातः ! तुमने मेरा अनन्त उपकार किया है । अतः मैं प्रतिदिन आपके चरणों में प्रणाम करता हूं । आप इस समय स्वर्ग में विराजमान हैं । फिर भी मैं आपके हाथों में यह अपनी कृति समर्पण करता हूं ॥ ४८ ॥

पंचम स्तबक समाप्त

षष्ठः स्तबकः

तपस्या

**नमामि तं वीरमहं यदीयं पादस्थितं धूलिगतं सुचिह्नम् ।
निरीक्ष्य शंकाकुलचित्तवृत्तिर्बभूव दैवज्ञ इह प्रबुद्धः ।। १ ।।**

समासेन मुनिवृत्तिस्तावत्प्रस्तूयते—

**सांसारिकं सर्वसुखं विहाय,
जिनेन्द्रमार्गं प्रतिपद्य ये ते ।
भवं स्वकीयं सफलं विधातुं,
दीक्षां समादाय चरन्ति केऽपि ।। २ ।।**

छठा स्तबक

तपस्या

मैं ऐसे उस वीर प्रभु को नमस्कार करता हूं जिनके चरण-चिह्नों को मार्ग की धूलि में अंकित देखकर शंकितवृत्तियुक्त कोई राजज्योतिषी शंकाविहीन हो गया ।। १ ।।

संक्षेप से मुनिचर्या का वर्णन—

जो मनुष्य सांसारिक समस्त सुख-साधनों का परित्याग करके जिनेन्द्र-प्रतिपादित मार्ग को अंगीकार कर अपने जन्म को सफल करते हैं—मुनिवृत्तिधारण करते हैं ऐसे मानव इस संसार में विरले ही होते हैं ।। २ ।।

धन्या जनास्ते विविधैस्तपोभिर्मलीमसं स्वं परिशोधयन्ति ।
आदर्शरूपा जगतीह भूत्वा निर्विघ्नमायान्ति विमुक्तिसौधम् ॥ ३ ॥

कायेऽपि यस्यां न विमोहवृत्तिः,
संजायते साधुजनस्य तस्याम् ।
विवर्तमानस्य च तस्य वृत्तिः,
कथं न सा पूज्यतमाऽमरैः स्यात् ॥ ४ ॥

उपद्रवा अथ परीषहा च यत्र क्वचित्संचरतोऽपि साधोः ।
पार्श्वे समायान्ति, बिभेति नायमालम्ब्य साम्यं सहते प्रमोदात् ॥ ५ ॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा ।
समैव येषां सततं प्रवृत्तिः,
नमोऽस्तु तेभ्यो वृषनायकेभ्यः ॥ ६ ॥

वे मानव धन्य हैं जो अनेक प्रकार की तपस्याओं द्वारा मलिन आत्मा का शोधन करते हैं और आदर्श रूप होकर अन्त में बिना किसी बाधा के मुक्तिरूपी महल में जाकर विराजमान हो जाते हैं ॥ ३ ॥

मुनिजनों का ममत्व शरीर पर नहीं अपनी मुनिवृत्ति पर होता है। इसी कारण उनकी वह वृत्ति देवताओं द्वारा भी पूज्य होती है ॥ ४ ॥

साधुजनों को विहारकाल में अनेक प्रकार के उपसर्गों को और परीषहों को सहना पड़ता है, परन्तु वे उनसे घबड़ा कर अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं होते, प्रत्युत समता भाव से उन्हें सहन करते हैं ॥ ५ ॥

उन धर्म के नायक मुनिजनों को मेरा बारम्बार नमस्कार हो जो सुख में, दुःख में, वैरी में, बन्धुवर्ग में, योग में, वियोग में, भवन में और वन में एक सी वृत्तिवाले होते हैं ॥ ६ ॥

मोहाख्यशत्रुं च विजेतुमेते भवन्ति दैगम्बरवृत्तिभाजः ।
विहाय संगं परिवर्ज्य भोगं ज्ञात्वा च देहं खलु रोगगेहम् ।। ७ ।।

अत्यन्तमुष्णा प्रवहन्ति वाताः,
सूर्यांशवो यत्र तपन्ति देहम् ।
क्षितिश्च धूमध्वजवद्ध्यगम्या,
तपस्विनः पादविहारिणोऽमी ।। ८ ।।

पुष्पावलीभी रचितासु पूर्वं शय्यासु सुप्तं भवने सुखेन ।
यैस्तेऽधुना धूलिकणान्वितायां स्वपन्ति मह्यां मुनिवृत्तिरेषा
।। ९ ।।

गजेन्द्रमारुह्य पुराऽचलन् ये,
अखर्वगर्वाद्धुना त एव ।
संवीक्ष्य संवीक्ष्य महीं चलन्ति,
जीवानुकं पाशयतो मुनित्वे ।। १० ।।

मोहरूपी शत्रु पर विजय पाने के लिए ही दिगम्बर वृत्ति अंगीकार की जाती है, इस दिगम्बर वृत्ति में वर्तमान मानव को २४ प्रकार के परिग्रह का, पंचेन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष करने का एवं रोगों के घररूप समझ कर देह पर अनुराग रखने का परित्याग हो जाता है ।। ७ ।।

ये मुनिजन ज्येष्ठ के महिने में जबकि सूर्य अपनी प्रखर किरणों से पृथ्वी को अग्नि के समान अत्यन्त उष्ण कर देता है, शरीर गर्म-गर्म लूओं से तपने लगता है, और जब जमीन पर नंगे पांव चलना मुश्किल हो जाता है, पैदल चलते हैं ।। ८ ।।

जो पहिले अपने भवन में पुष्पों की सेज पर सुख से सोते थे वे ही मुनि अवस्था में धूलि से भरी हुई भूमि पर सो जाते हैं ।। ९ ।।

पहिले जो बड़े ठाटबाट से हाथी पर बैठकर मूछों पर ताव देकर चला करते थे, वे ही मुनि अवस्था में जीवों की रक्षा करने के अभिप्राय से भूमि को देख-देखकर चलते हैं ।। १० ।।

न क्षौरकर्माणि जलाभिषेकं नाभ्यङ्गमङ्गस्य च संस्कारम् ।
न दन्तकाष्ठादिभिराचरन्ति शुद्धिं रदानां च कदापि चैते ॥ ११ ॥

कचांस्तृणानीव करेण तावत्—,
चोत्पाटयन्तीह सहर्षमेते ।
तथाप्यनेकानि तपन्ति यावज्—,
जीवं जिनेन्द्राध्वनि वर्तमानः ॥ १२ ॥

निर्दोषमाहारमिमे च धर्मध्यानस्य सिद्धयर्थमवन्द्यवृष्यम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः कथां न कुर्वन्ति कदापि कुत्र ॥ १३ ॥

यतो निरारंभपरिग्रहस्य,
साधोर्न चिन्ता परिबाधते स्म ।
तस्या गुरुत्वान्मनसो लघुत्वा,
तस्मान् निवासो न भवेदमुष्याः ॥ १४ ॥

ये न बाल बनवाते हैं, न स्नान करते हैं, न शरीर पर तैल की मालिश करते हैं और न दातों की शुद्धि के निमित्त दातौन आदि करते हैं ॥ ११ ॥

जिस प्रकार तृणों को उखाड़ कर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार ये अपने मस्तक के बालों को हाथ से उखाड़ कर फेंकते हैं। बड़े आनन्द के साथ ये जीवनपर्यन्त अनेकविध तप करने में रत रहते हैं ॥ १२ ॥

ये मुनिजन निर्दोष आहार लेते हैं। इन्द्रिय-विकार उत्पन्न करने-वाला आहार ये ग्रहण नहीं करते। धर्मध्यान करने में जो साधक हो ऐसा ही आहार ये लेते हैं। देशकथा, राजकथा, आदि विकथाओं को ये नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

ये सर्वदा आरम्भ और परिग्रह से दूर रहते हैं अतः किसी भी प्रकार की चिन्ता इन्हें बाधित नहीं करती है क्योंकि उसके भारी होने के कारण और इनका चित्त निर्मल—लघु—होने के कारण उसे वहां रहने को स्थान नहीं मिलता है ॥ १४ ॥

ध्यानेन तावत्तपसा श्रुतेन दुर्भावबृत्ति ह्यशुभोपयोगम् ।
निरुध्य साधुश्च रुणद्धि पश्चाद्दुष्कर्मणामागमनं प्रयत्नात् ।। १५ ।।

कथं च जीवस्य हितं भवेत्ते,
विचारनिशं भावनयाऽनयाढ्याः ।
भवन्त्यतो धर्म्यमहोपदेशे,
तदेव तत्त्वं प्रवदन्ति नान्यत् ।। १६ ।।

अलौकिकी वृत्तिरतोऽह्यमीषां वाचंयमानां भवतीति शास्त्रे ।
प्रोक्तं मुनीनामभिवंद्यपादमवद्यभेदं कुरुतेऽथ भक्तः ।। १७ ।।

तदेव तीर्थं निपतन्ति यत्र,
तेषां गुरूणां गुरवोंऽघ्रयस्ते ।
त्रैलोक्यवंद्या रजसां जनानां,
संहारकाः सर्वहितंकराणाम् ।। १८ ।।

ध्यान से, तपस्या से और स्वाध्याय से ये अशुभ उपयोग एवं दुर्भाव-वृत्ति को दूर करते एवं दुष्कर्मों के आस्रव को रोकते रहते हैं ।। १५ ।।

जीवों का कल्याण कैसे हो रात-दिन ये इसी विचारधारा से सने हुए रहते हैं और इसी विषय को वे अपने धार्मिक उपदेश में भी प्रकट करते रहते हैं ।। १६ ।।

इन मुनिराजों की प्रत्येक प्रवृत्ति अलौकिक ही होती है। इनके सहारे अन्य और भी भव्यजन अपने पापों को—अशुभ कर्मों को नष्ट करते रहते हैं ।। १७ ।।

वही स्थान तीर्थस्वरूप हो जाता है जहां पर सर्वहितंकर इन गुरुदेवों के त्रिलोकवंद्य चरणकमल पड़ते हैं ।। १८ ।।

"महता परिश्रमेण विना महत्कार्यं न सम्पन्नं संजायते ।" इत्युक्त्यनुसारेण महतः कार्यस्य सिद्ध्यर्थं तावन्महानेवायासः करणीयः कल्प्यते । अतः श्रीमता भगवता महावीरेणानादिकालतः संसक्तस्यैकलोलीभावेनात्मनि कर्मबन्धस्य, यद्वशादनन्तशक्तिशालिन इमे जीवाः संसारकारागारे बन्दिन इव पिहिताः सन्तो ध्रुवं नानाविधं कष्टं सहन्ते क्षयार्थं कठोरातिकठोरं तपश्चरणं समारब्धम् । यदाऽयमात्मसाधनायां निमग्नो भवति स्म तदा बहून् दिवसान् यावदेकेनैवासनेन विनिश्चलोऽचल इव तिष्ठति स्मोर्ध्वासनो वा भवति स्म । यदा कदाचिदसावेकमासमपि निरन्तरमात्मध्यानं कुर्वन्नास्ते स्म । तस्मिन् समये यद्यपि तस्याहारग्रहणाभावस्तावत्स्वत एवाजायत नैतच्चित्रं, परं चित्रमेतदेव यद्बाह्यवातावरणस्यापि प्रभावस्तदवस्थायां तस्यानुभवविषयो न जायते स्म । अतएवासौ शीतर्तौ शिलोच्चयशिखरे तटिनीतटे निरावरणप्रदेशेऽऽत्मध्याननिरतोऽचलवद-

---

"महान् कार्यों की सिद्धि कठोरातिकठोर परिश्रमसाध्य ही होती है, उसके बिना नहीं होती है" इस नीति के अनुसार महान् कार्य को सुसम्पन्न करने के लिए महान् ही परिश्रम करणीय होता है, इसीलिए भगवान् महावीर ने अनादिकाल से क्षीर नीर की तरह एकलोली भाव से आत्मा में संसक्त हुए कर्मों के बन्धन को जिसकी वजह से अनन्त शक्तिशाली ये जीवात्माएँ बन्दीजन की तरह इस संसाररूपी कारागार में बन्द हुई नाना प्रकार के कष्टों को सहन करती आ रही हैं नष्ट करने के लिए कठोरातिकठोर दुर्धर तपश्चरण करना प्रारम्भ किया । जिस समय ये आत्म-साधना में निमग्न होते, उस समय अनेक दिनों तक एक ही आसन से पर्वत की तरह अचल—स्थिर रहते । जब कभी ये एक माह तक भी निरन्तर आत्मध्यान में तल्लीन रहते उस समय यद्यपि इनके आहार ग्रहण करने का अभाव स्वतः ही रहता था—सो इसमें कोई अचरज जैसी बात नहीं है—परन्तु आश्चर्य जैसी बात तो यह थी कि बाह्य वातावरण का भी प्रभाव उस अवस्था में इनके अनुभव में नहीं आता था । यही कारण है कि ये शीतकाल में पर्वत की चोटी पर, नदी के तट पर तथा आवरणविहीन स्थान पर आत्मध्यान में ऐसे तल्लीन हो जाते थे जैसे कोई अचल—पर्वत

चलासन एव तिष्ठति स्म। नाजायत बलवतोऽपि प्रकम्पकारिणः शीतस्य लेशतोऽप्यनुभवोऽस्मै। ग्रीष्मतौ शिखरितुङ्ग शिखरमध्यास्यासौ करोति स्म ध्यानम्। न भवति स्म शक्तं उपरिष्टात्सूर्यातपोऽधस्तात्त्चायोगोलकवदत्यन्तं संतप्तं पाषाणखण्डम्। उष्णः परितः प्रवहमानस्तरस्वी समीरश्च। निरम्बरं दिगम्बरं स्वाध्यासाद्विचालयितुमेनम्। न शक्नोति स्म वर्षतावपि चैतन्नग्न शरीरोपरि पतन् परितो झंझयाऽऽहत आसारोऽपि स्वात्मचिन्तने संमग्नमेनं ध्यानाद्भुष्टं विधातुम् यद्यप्यशरण्येऽरण्ये मदोन्मत्तानां गण्डस्थलात् स्रवद्दानोदकानां वनगजानां गर्जनाः, केशरिणां धैर्यध्वंसिनः क्ष्वेडोध्वनयः, वन्तशूकानां फूत्काराश्च भवन्ति तथाप्यस्य प्रभोरेतेषां मानमात्मचिन्तने निमग्नत्वात् किञ्चिदपि नोऽजायत।

हो। शरीर में कंपकंपी आ जावे ऐसी अधिक शीतलहर युक्त पवन चलने पर भी इन्हें जरा सी भी ठण्ड का अनुभव नहीं होता था। जब ग्रीष्म ऋतु आती उस समय पर्वत की ऊंची से ऊंची चोटी पर बैठकर ये ध्यान करते थे। ऊपर तपते हुए सूर्य के प्रखर आताप में और नीचे लोहे के गोले के समान अत्यन्त तप्त हुए पाषाणखण्ड में ऐसी शक्ति नहीं थी जो इन निरम्बर—वस्त्रविहीन दिगम्बर मुनिराज वर्धमान को आत्मध्यान से तनिक भी विचलित कर सके तथा वर्षा ऋतु में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं थी जो उस काल में इनके नग्न शरीर पर चारों ओर से गिरती हुई मूसलाधार—वेगवती—वृष्टि स्वात्मचिन्तवन में निरत हुए इन्हें ध्यान से उचाट मनवाली बना सकती। यद्यपि उस अशरण्य अरण्य—वन—में मदोन्मत्त जंगली हाथियों की चिघाड़ें होती रहती थीं, धैर्य को छुड़ा देनेवाली शेरों की दहाड़ें भी होती रहती थीं, सर्पराज भी फुंकारते रहते थे तब इन प्रभु को आत्म-चिन्तवन में निमग्न होने के कारण इनका सबका कुछ भी भान नहीं होता था।

तपस्विनोऽस्य प्रथमा पारणा कूलनगरे दानतीर्थंकरस्य बकुलस्य राजप्रासादे सम्पन्नाऽभवत्। आत्मध्यानाद्विनिवृत्तस्य यदा भवति स्मास्य शरीरार्थमाहारादानसमीहा तदाऽसौ निस्पृह वृत्यैवाहरति स्म।

निकटस्थं ग्रामं पुरं पत्तन वा मुनिचर्यानुसारेण गत्वा विधिपूर्वकं निर्दोषमाहारम्। पश्चात्ततस्तपस्यां विधातुं वनं पर्वतं वा समेत्य कुत्र-चिदसौ दिनद्वयं क्वचन चतुर्दिवसान् क्वचिच्च सप्तदिनानि वा तिष्ठति स्म। तदनन्तरमसौगच्छतिस्म ततो विहृत्यान्यत्र यस्मिन् कस्मिंश्चिदपि स्थानान्तरे निर्जनं प्रदेशम्। यदि कदाचिदसौ निद्राकर्मवशंगतो भवेत्तदा पार्श्वेनैकेनैव क्षणदायाः पश्चिमे भागे किञ्चित्कालं संमार्ज्य भूमावेव स्वपिति स्म।

इन तपस्वी का सर्वप्रथम पारणा कूल नगर में दानतीर्थ के प्रवर्त्तक बकुल नरेश के राजमहल में हुआ था। जब ये आत्मध्यान से निवृत्त होते थे तब भी इनको आहार ग्रहण करने की इच्छा यद्यपि नहीं होती थी फिर भी ये निस्पृह वृत्ति से ही आहार ग्रहण करते थे, आहार की लोलुपता या गृद्धता से नहीं और न शरीर को पोषण करने के भाव से ही। धर्म का साधनभूत शरीर है इसी भाव से ये आहार ग्रहण करते थे।

गोचरी के लिए ये निकट के ग्राम में, पुर में या पत्तन आदि में मुनिचर्या के अनुसार जाते। वहां आहार की विधि के अनुसार जो निर्दोष आहार इन्हें मिलता उसे ले लेते। पश्चात् तपस्या करने के लिए वहां से किसी वन में या पर्वत पर चले जाते। विहार करते समय कहीं दो दिन, कहीं चार दिन और कहीं सात दिन तक ठहरते। इसके बाद ये वहां से विहार करके दूसरी जगह पहुँच जाते। यदि कभी इन्हें निद्रावरणी कर्म के उदय से निद्रा आती तो ये रात्रि के पिछले पहर में एक ही करवट से सोते सो भी अधिक समय तक नहीं, केवल थोड़े से ही समय तक।

इत्थमसौ यापयति स्मात्मसाधनायामधिकं शारीरिकसाधनायां च न्यूनातिन्यूनं कालम् । अमुना प्रकारेण कठोरातिकठोरां तपसि चर्यां समाचरन्नसौ विजहार देशाद्देशान्तरम् । भोजनार्थमेव केवलं ग्रामं पुरं वा समागच्छत् । अवशिष्टं चाऽनेहसं विजने वने, पर्वते, दर्यां, नद्यास्तटे, पितृवने, चोद्याने च निर्गमयति स्म ।

अथ यदा वन्या हिंस्रा, श्वापदा यदा समागच्छन् प्रभोस्तस्याभ्यर्णे तदा तं प्रशान्तमूर्तिं वीक्ष्यैव तेषां क्रूरा हिंसात्मिका दुर्भावना जिघांसा च स्वतः एव प्रशान्ता जायते स्म । परस्परजातिविरोधिनोऽपि शार्दूला मृगा व्याला नकुला मार्जारा मूषकाश्चेत्यादयः प्राणिनां जन्मजातवैरं विरोधं द्वेषं च विहाय प्रेम्णा प्रशान्तवृत्या चाहिंसामूर्तेस्तस्य स्वामिनः सविधे तिष्ठन्ति स्म मिथश्च प्रक्रीडन्ति स्म ।

इस तरह ये आत्मसाधना में अधिक से अधिक समय व्यतीत करते और शारीरिक साधना में कम से कम समय लगाते । इस प्रकार से तप में कठोरातिकठोर चर्या करते हुए ये एक स्थान से दूसरे स्थान में विहार करते रहते । केवल भोजन—आहार के लिये ही ये ग्राम या नगर में आते और अपना अवशिष्ट समय या तो निर्जन वन में या पर्वत पर या गुफा में या नदी के तट पर या श्मशान में अथवा किसी बगीचे में समाधिस्थ होकर व्यतीत करते ।

जब भयप्रद जंगली जानवर प्रभु के समीप आते तो वे उन्हें देखकर ही अपनी क्रूर हिंसक दुर्भावना को और जिघांसा को छोड़ देते थे । परस्पर अति विरोधी शार्दूल—मृग, व्याल-नकुल, मार्जार और मूषक आदि जीव भी जन्मजात वैर-विरोध-द्वेष का परित्याग कर बड़े प्रेम से हिलमिलकर शान्तिपूर्वक अहिंसा की मूर्तिस्वरूप उन स्वामी के निकट बैठते थे और आपस में अमन चैन के साथ विविध प्रकार की खूब क्रीड़ाएँ करते रहते थे ।

दीपः स्वभावाद्धि यथा तमोघ्नः,
ज्ञानं यथाऽज्ञाननिवर्तकं वा ।
यथौषधं वास्ति गदापहारि,
वह्निर्यथा चेन्धनदाहकारी ।। १९ ।।

तथैव जीवे खलु वर्तमानः,
रागाद्यभावः समतास्वरूपः ।
स्वभावतो वैरविरोधहन्ता,
संजायते नात्र विवादलेशः ।। २० ।।

यत्रास्त्यहिंसात्मकवृत्तिशाली, साधुः प्रभावात् सहसा तदीयात् ।
वृष्ट्या यथा शाम्यति वह्निरित्थं, शाम्यन्ति तत्रापि विरोधरोगाः ।।२१।।

चन्दनोद्धारः

अमुना प्रकारेण विविधस्थलेषु विहरन्नसौ तीर्थंकरो महावीरोऽन्ये-द्युर्वत्सदेशान्तर्गतां कोशाम्बीनगरीमाहारार्थमागात् । आसीत्तत्रैको

जिस प्रकार दीपक स्वभावतः अन्धकार का विनाशक होता है, ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, औषध रोग-निवारक होता है और अग्नि ईंधन को जलानेवाली होती है उसी प्रकार जीव में वर्तमान समतारूप रागादिक भावों का अभाव वैर-विरोध का नाशक होता है । जहां अहिंसात्मकवृत्तिशाली साधु रहता है वहां वृष्टि से अग्नि की तरह वैर-विरोधादिरोग शान्त हो जाते हैं ।। १९—२१ ।।

चन्दना सती का उद्धार

इस प्रकार अनेक स्थलों में विहार करते हुए तीर्थंकर महावीर एक दिन वत्सदेश के अन्तर्गत कौशाम्बी नगरी में आहार के निमित्त पधारे ।

धनपतिमान्यो धनिकस्तस्य हर्म्याधोवर्तिगृहे (तलघरे) शृंखलानिगडित-हस्तपादामुकलितवदनारविन्दा चन्दना सती हृदयविदारकानेककष्टं सहमाना वन्दिनीव महता दुःखेन स्वदिवसान् यापयति स्म । विधुरस्तया-तथाऽश्रावि यत्तीर्थंकरो विहरन् कौशाम्बीमायातः श्रीमहावीरः । एतच्छ्रवणमात्रेणैव पुलकितगात्रायाः कृतान्तकान्तरक्षान्तायाः कान्ताचरण-संभग्नायास्तस्याः स्वार्ति तृणाय मन्यमानाया मनसीदृशीशुभावोद्रेकवती भावना समुद्भूता यदहं परमपुण्यलभ्य दर्शनीय श्रीमहावीराय संयमाराधन-तत्पराय दद्यामाहारमिति । किन्तु सांप्रतमहमस्मि भूमिगृहाभ्यन्तरवासिनी शृङ्खलानिगडितपादकरा कथमिव मे वराकिण्या मनोरथो मनोराज्यादि-विकल्पवत् सफलतां लभेत । इत्थं दुर्दम्यसंकल्पपरायणा सा हताशा न

वहां धनिकों में भी विशिष्ट एक धनिकजन रहते थे। उनके मकान के नीचे एक तलघर था। उसमें शृंखला से जिसके हाथ-पैर बन्धे हुए थे और मुख जिसका उदासीनता के भाव से मुकलित हो रहा था ऐसी सतीचन्दना बन्दी की तरह अनेक हृदयविदारक कष्टों को सहन करती हुई बन्द थी। वह वहां अनेक प्रकार के दुःखों को भोगती हुई अपने दुर्दिनों को व्यतीत कर रही थी। विपत्ति की मारी हुई उसने जब ऐसा सुना कि तीर्थंकर महावीर कौशाम्बीनगरी में पधारे हैं तो सुनते ही सैद्धान्तिक मान्यता से सुहावनेमनवाली एवं निर्दोष आचरण से संपन्न उसका शरीर आनंदोत्कर्ष से फूला नहीं समाया अपने आपमें। वह अपनी व्यथा भूल गयी। उसे तृण के जैसा नगण्य गिनती हुई उसने मन में ऐसी भावना भायी कि मैं पुण्यलभ्यदर्शनवाले इन संयम की आराधना में तत्पर बने हुए महावीर के लिए आहार दूं परन्तु मैं इस समय तलघर में बन्द हूं, शृङ्खला से मेरे हाथ-पैर बन्धे हुए हैं। यह मुझ अभागिनी का मनोरथ मनोराज्यादि विकल्प की तरह कैसे सफलता को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार की दुर्दम्य भावना में परायण वह हताश नहीं हुई। अपने

जाता । स्वीयं दौर्भाग्यं दुर्दशां विनिन्दतीयं यावदास्ते तावदेव तस्याः पवित्रान्तःकरणभावनारज्ज्वाकृष्ट इव संयोगवशतस्तीर्थंकरो भगवान् महावीरश्चन्दनाया गृहाभिमुखोऽजायत । तस्मिन्नेवावसरे चन्दना स्वीयसद्भावनाबलेन विगलितत्रुटितनिगडा सती भूमिगृहाद्बहिरागत्य द्वार्यतिष्ठत् । अनन्यमानसयेत्थं तत्र तया चिन्तितम्—

सौभाग्यमेतत्परमं मदीय-,
मागान्महावीर इहाधुनैव ।
कथं च तद्दर्शनतः पवित्रां,
कुर्यामहं स्वामिति तत्र दध्यौ ।। २२ ।।

धिङ्मामपुण्यवशतः करपादबद्धाम्,
धिग्मां पवित्रविभुदर्शनरिक्तनेत्राम् ।
धिङ्मामपुण्यवसतिं युवतिष्वधन्याम्,
धिग्मां प्रदानपरिवर्जितहस्तयुग्माम् ।। २३ ।।

दुर्भाग्य की एवं दुर्दशा की इस तरह से निन्दा करने में वह संलग्न ही थी कि इतने में उसकी पवित्र अन्तःकरण की भावना-रूप रज्जू से ही मानो खिचे हुए से वे तीर्थंकर महावीर संयोगवश ज्योंही चन्दना के घर की ओर आये त्योंही चन्दना अपनी मानसिक सद्भावना के प्रभाव से बन्धनविहीन होकर तलघर से बाहर निकल आयी और आकर वह द्वार पर बैठ गयी । एकाग्रचित्त होकर उसने वहाँ बैठे-बैठे इस प्रकार विचार किया—

"यह मेरा सर्वोत्तम सौभाग्य है जो इस समय यहाँ महावीर पधारे हैं । अब मैं उनके दर्शन करके अपने आपको पवित्र करूँगी ।।२२।।

शृंखला में बद्ध हाथ-पैरवाली मुझ अभागिनी को धिक्कार है । प्रभु के पवित्र दर्शनों से वञ्चित पाप की खानिरूप और दानधर्म से वर्जित हस्तयुगलवाली मुझ अभागिनी को धिक्कार है ।। २३ ।।

इत्थं स्वां मनसि विनिन्दती चन्दना यावदास्ते तावदेव तीर्थकरो महावीरस्तत्रैव द्वारि समागत्यातिष्ठत् । नवधाभक्तिं विधाय सा तस्मै दातृगुणमंडिता भक्त्युल्लिखिताहाराऽऽहारमदात् ।

अभूवंस्तस्मिन्नेव क्षणे देवैः संपादितानि शुभकार्यतासूचकानि रत्नवृष्ट्यादीनि पंचाश्चर्याणि । चन्दनाया जाता सतीत्वपरीक्षा । सतीत्व-परीक्षायां समुत्तीर्णायास्तस्या महत्त्वमपि अनतायाः समक्षमनायासे-नानया प्रकटितं प्रथितं चेतस्तत समीरणेन प्रसार्यमाणः कस्तूरिकाया आमोद इव झटिति ।

चंदनेयमासीद्राज्ञश्चेटकस्यैव तनुजा । एकदेयं यदोपवने दोलायां दोलयन्त्यासीत्तदा तत्रागतेन केनापि विद्याधरेण तदीयरूपलावण्याकृष्ट-मानसेनेयमाहृता । संयोगवशात्तत्प्रपंचतो विनिर्मुक्तेयं विधे दुर्विपाकाद्दासी-

---

चन्दना इस प्रकार अपने मन में निंदा कर ही रही थी कि इतने में महावीर द्वार पर आकर खड़े हो गये । चन्दना ने नवधा भक्ति की और उन्हें आहार दिया । उसी समय देवों ने शुभकार्यता के सूचक रत्न-वृष्टि आदि के पांच आश्चर्य किये । इस तरह चन्दना के सतीत्व की परीक्षा हुई । सतीत्व की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई उसका महत्त्व अनायास ही इसके द्वारा प्रकट हो गया और जैसे हवा कस्तूरी की सुगंध को चारों ओर फैला देती है उसी प्रकार इसके प्रभाव ने उसे चारों तरफ फैला दिया ।

चन्दना राजा चेटक की पुत्री थी । एक दिन की बात है कि जब यह उद्यान में झूला झूल रही थी तब वहां आये किसी विद्याधर ने इसके अनुपम रूपलावण्य को देखा और उससे आकृष्ट होकर उसने इसका हरण कर लिया । संयोगवश ऐसा हुआ कि यह उसके प्रपंच से छूटकर इस श्रेष्ठी के यहां अशुभकर्म के उदय से दासी बनकर रहने लगी ।

भूयास्य श्रेष्ठिनो गृहं समाप। नवयौवनाढ्यामिमां राकासुधादीधिति-समानवदनारविन्दां सुन्दराङ्गीं सुन्दराङ्गाकृत्या न्यक्कृतकामवामां समुद्वीक्ष्य श्रेष्ठिन: श्यामा वामा मनसि पापाक्रान्तविचारधारा विचारयामास---कदाचिदियं मद्भर्तुरनुमता सती तदनुरागानुबद्धा न भूयादित्यारेकया कलुषितहृदया सा तां वराकीं चन्दना शृङ्खलाभिर्निगडितपाणिपादां संविधाय स्वभवनस्याधोगृहाभ्यन्तरे चिक्षेप। प्रदाच्च तस्यै रूक्षं शुष्कं पर्युषितं कशिपुमत्तुम्।

इत्थं स्वीयदौर्भाग्येन प्रपीडिता सैव चन्दना सौभाग्योदयबला-न्महावीरस्य दर्शनं नानाविधपापमलापहारकं समुपलभ्य तस्मै चाहारकं प्रदाय दासताबंधेन विनिर्मुक्ता जाता। इयमस्ति सतीति पश्चाद्विज्ञाय पश्चात्तापपरायणया श्रेष्ठिन्या "देवि! अज्ञानवशतो जायमानान् मदपराधान् क्षन्तुमर्हसीति त्वं दयां विधाय क्षन्तव्येयं करौ संयोज्योक्त्वा सा क्षमायाचनया मुहुर्मुहु: सत्कृता। "विधिरहो बलवानिति" यदुक्तं सत्यमेव तदत्र संजातम्।

पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल जैसे मुखवाली नवयौवनवती चन्दना को, जिसके समक्ष कामदेव की गृहिणी रति भी फीकी लगती थी, देखकर सेठ की धर्मपत्नी के मन में ऐसा विचार आया कि कहीं यह मेरे पतिदेव की प्रेमपात्र न बन जावे अत: उसने उसे अपने भवन के तलघर में शृङ्खला से हाथपैर बांधकर बन्द कर दिया और खाने-पीने के लिए वह उसे रूक्ष एवं शुष्क बासी भोजन देने लगी।

इस प्रकार जो चन्दना अपने दुर्भाग्योदय से पहले पीड़ित थी वही चन्दना सौभाग्य के उदय से अब भगवान् महावीर के दर्शन पाकर और उन्हें आहार देकर दासता के बंधन से निर्मुक्त हो गई। जब सेठानी ने "यह सती है" ऐसा जाना तो वह अपने दुष्कृत्य पर बहुत अधिक शर्मिन्दा हुई और पछतायी। अन्त में उसने अपने दुर्व्यवहार की दोनों हाथ जोड़कर चन्दना से बार-बार क्षमा मांगी तथा उसका खूब सत्कार किया। "भाग्य बड़ा बलवान् होता है" यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।

दुःखं तावद्भवति निकषो यत्र नुः स्यात् परीक्षा,
शिक्षा दीक्षा गुणिगणकथा तत्कृते न क्षमाऽस्ति ।
जाते कष्टेऽविगलितधियः कर्मठा ये भवन्ति,
राजन्ते ते दहनविमलस्वर्णतुल्याः पृथिव्याम् ॥२४॥

सौख्ये तावद्वसति बहुलो दुर्गुणानां समूहः,
स्वेच्छाचारोऽकरणकरणं च प्रमादः शुभेषु ।
सौख्ये मग्नो भवति पुरुषश्चेन्द्रियाधीनवृत्तिः,
बह्वारंभो बहुतरपरिसक्तचित्तः ॥ २५ ॥

सुखावसाने ध्रुवमेव दुःखं, दुःखावसाने ध्रुवमेव सौख्यम् ।
इत्थं समीक्ष्यैव न दुःखकाले भेतव्यमस्मात्सुखार्थिनेह ॥ २६ ॥

दुःख एक कसौटी है जिस पर मानव की परीक्षा होती है । शिक्षा, दीक्षा एवं गुणिजन के गुणों की कथा से मानव की परीक्षा नहीं होती । आपत्तिकाल में जो कर्मठ बने रहते हैं और धैर्यविहीन नहीं होते हैं वे अग्नि से तपकर शुद्ध हुए स्वर्ण के समान इस धराधाम पर चमकते रहते हैं ॥ २४ ॥

सांसारिक सुखसंपन्न अवस्था में अनेक दुर्गुणों का जमघट रहता है । मनुष्य उस अवस्था में स्वेच्छाचारी निरंकुश बन जाता है । नहीं करने योग्य काम भी करने लग जाता है और अच्छे कार्यों के करने में वह आलसी हो जाता है । उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति इन्द्रियों के अनुसार होती है वह बह्वारंभपरिग्रहवाला हो जाता है ॥ २५ ॥

यह तो निश्चित है कि जब सुख के दिन गुजर जाते हैं तो मनुष्य दुःख के दिनों को भोगता है और जब दुःख के दिन कट जाते हैं तो वह सुख के समय को भोगता है । सुख और दुःख इस तरह शाश्वत नहीं हैं–परिवर्तनशील हैं । इस प्रकार विचार कर सुखार्थी को दुःख के समय दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिये ॥ २६ ॥

यथाऽस्ति दुःखमस्थायि सुखं सांसारिकं तथा।
शं दत्वा गच्छसौ दुःखान्तेऽस्ति हा! का विभीषिका ॥२७॥

संध्यारागनिभं सौख्यं यदन्ते तमसश्चयः।
आविर्भवति दुःखानां ज्ञानध्यानप्रभापहृत् ॥ २८ ॥

प्रातःकालीन संध्याभं दुःखं संजायते ध्रुवम्।
यदन्ते स्फारसौख्यस्य प्रकाशः शान्तिदायकः ॥ २९ ॥

किञ्च—के वाऽस्मदीयाश्च भवन्ति के वा,
जनास्तथा नेति विदन्ति यस्मात्।
तत्साधनं श्रेष्ठमिदं हि, नान्यत्,
तस्मान्न दुःखाद्विभितात्कदाचित् ॥ ३० ॥

सांसारिक सुख जब अस्थायी है तो दुःख भी अस्थायी है। ऐसा सोच-समझ कर दुःख से डरने की आवश्यकता नहीं है। जब दुःख नष्ट होगा तो वह सुख देकर ही नष्ट होगा ॥ २७ ॥

ज्ञानियों का कहना है कि सांसारिक सुख संध्याकालीन लालिमा के समान है जिसके अन्त में अंधकार का बवंडर आता है, वह बवंडर ही तो दुःखों का स्थानापन्न है। यह ज्ञान-ध्यान की प्रभा का नाशक होता है और अन्धकार प्रकाश का विनाशक होता है ॥ २८ ॥

दुःख प्रातः काल की लालिमा के जैसा है जिसके बाद स्फारप्रकाश-वाला सुखसाम्राज्य भोगने को मिलता है ॥ २९ ॥

अपने और पराये की पहिचान करानेवाला एक दुःख ही है अतः इससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३० ॥

सांसारिकं सुखं दुःखं कल्पनाशिल्पिनिर्मितम् ।
यस्मै यद्रोचते तस्मै तत्सुखं दुःखमन्यथा ।। ३१ ।।

आकुलताविहीनं तु सुखमुक्तमतोऽन्यथा ।
दुखमेवेति विज्ञाय संसृतौ नास्ति तत्सुखम् ।। ३२ ।।

इत्थं विचिन्त्यैव तया विसेहे. प्रबुद्धया चंदनयाऽत्य दुःखम् ।
प्रशान्तभावेन, ततश्च पश्चाच्छुभोदयात्सा सुखभाग्बभूव ।।३३।।

उपसर्गसहनम्

निःसंगः समीरो यथाऽबाधगत्या सर्वत्र भ्राम्यति, न चैकत्र कस्मिंश्चिदपि स्थले स भवति निरुद्धस्तथैवासंगो निर्ग्रन्थस्तीर्थंकरो महावीरोऽपीतस्ततोऽप्रतिबद्धविहारेण विजहार । एकदाऽसौ

यथार्थदृष्टि से विचार किया जावे तो सुख और दुःख ये तो कल्पना-शिल्पी के द्वारा निर्मित हुए हैं क्योंकि जो जिसको रुचता है वह उसमें सुख मान लेता है और जो नहीं रुचता वह उसमें दुःख मान लेता है ।।३१।।

आकुलता जहां नहीं है वही सच्चा सुख है और जहां आकुलता है वहां दुःख है । इस दृष्टि से संसार में सुख है ही नहीं ।। ३२ ।।

इस प्रकार का विचार करके ही चन्दना ने बड़ी समझदारी के साथ दुःखों को सहन किया और फिर शुभोदय के प्रभाव से वह सुखी हो गई ।। ३३ ।।

प्रभु का उपसर्गसहन कथन

जिस प्रकार निःसंगपवन अबाधगति से सर्वत्र चलता है, वह किसी स्थान में रुककर नहीं ठहरता है उसी प्रकार असंग तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भी तपश्चरण करने के निमित्त एक स्थान से दूसरे स्थान पर अप्रतिबद्ध विहार किया ।

विहरन्नुज्जयिन्या नगर्या अभ्यर्णमागतः । नगर्या बहिर्वर्तमानेऽतिमुक्तकाख्ये पितृवने निर्जनमिवमधिष्ठानं प्रशान्तवातावरणसनाढ्यं चेति विज्ञायात्मध्याने निमग्नोऽभूत् प्रभुः । यदा सूचीमुखाग्रदुर्भेद्येन तमसाऽऽवृता विभावरी दिशोऽन्तरालमाच्छादयन्ती समागता तदा समागात्तत्रैकः कश्चित् स्थाणुनामको रुद्रो रुद्रपरिणामोपेतः । दृष्टस्तेन ध्याननिर्मग्नमनास्तपस्वी स महावीरः । संवीक्षणमात्रत एवासौ रोषान्धो ध्याननिरतं तं ध्याना-द्विचालयितुं विवेकविहीनो भूत्वा तस्योपरि विविधान् महोपसर्गांश्चकार— तथाहि—सर्वप्रथमं हि तेन स्वसिद्धविद्याबलेन स्वकीयं स्वरूपं विरूपं च विधाय भयदं कर्णकुहरस्फोटनशीलो वाचालित विङ्मंडलोऽट्टहासो विहितः । पश्चान्निर्गताग्निकिंजल्कजालं स्वलपनं दुर्दर्शनीयं विकुर्वन् ध्यानारूढं तं प्रत्याक्रमणं कर्तुमधावत् तदा तेन भूतप्रेतसत्कानि भीतिकराणि नृत्यानि वितेनिरे । करालव्यालकेसरिकर्यादीनां विभीषिकोत्पादका आखा

एक दिन की बात है कि वे विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी के निकट आये और उस नगरी के बाहरवाले श्मशान में जिसका नाम अतिमुक्तक था, ध्यान करने योग्य शान्त स्थान मानकर आत्मध्यान में निरत हो गये । जब रात्रि का समय आया तो वहां के निवासी स्थाणु नाम के एक रौद्र परिणामी रुद्र ने उन्हें ध्यान से निमग्न देखा । उन्हें ध्यान में निमग्न देखकर वह क्रोध से अन्धा बन गया । उसी क्षण उसने उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए उनके ऊपर अनेकविध उपसर्ग करने प्रारम्भ कर दिये । सबसे पहिले उसने अपनी सिद्ध हुई विद्या के बल से अपना निजरूप ऐसा विरूप बनाया जो भयप्रद था । उसके द्वारा किये गये अट्टहास ऐसे कठोरातिकठोर थे कि वे कानों की झिल्लियों को भी फोड़ डालते थे । उसने अपना मुख विक्रियाशक्ति से ऐसा बना लिया था कि जिसमें से अग्निज्वाला के केशर के जैसे लाल स्फुलिंगजाल निकल रहे थे । ऐसी विकुर्वणा करके वह ध्यानारूढ महावीर की ओर आक्रमण करने के लिए दौड़ा । उस समय उसने भूतप्रेत आदि के भयोत्पादक रूप बनाये और इन रूपों को बनाकर उसने ऐसे-ऐसे नृत्य किये कि जो शरीर में

आम्रेडितरूपेण समुच्चारिताः। रजोऽग्निवर्षाऽपि तस्योपरि विकराला प्रबलवेगवती विहिता। एवंविधा अनेके महोपसर्गास्तीर्थंकरं तं बिभीषयितुमात्मध्यानाद्विचालयितुं च तेन चक्रिरे। परन्तु न लब्धा तेन कापि सफलता। न खलु परमतपस्वी वर्द्धमान एभिर् मर्मन्तुदैरुपसर्गैस्तदा किञ्चिदप्यभैषीत्। न च तस्य वज्रवृषभनाराचसंहननस्य चित्तं ध्यानात्मनागपि चलितम्।

यथा यथाऽनेनोपसर्गास्तेनिरे तथा तथाऽयं प्रबलवात्यायामचल इवाचलोऽतिष्ठत्। अवसाने रौद्ररूपधारी स रुद्रः स्थाणुः कृतेषूपसर्गेष्वप्य-सफलतामलभमानस्तूष्णीमास्थायैव स्वस्थानं जगाम।

कंपकंपी छुड़ा देते थे। भयंकर व्याल, सिंह, हाथी आदि जीवों की गर्जनाएँ कीं। धूलि एवं अग्नि की वर्षा की। इस प्रकार अनेक विकराल महोपसर्ग उसने महावीर को भयभीत करने एवं आत्मध्यान से च्युत करने के लिए और आत्मध्यान से विचलित करने के लिए किये परन्तु उसे कुछ भी सफलता नहीं मिली क्योंकि भगवान् महावीर उसके द्वारा किये गये उन मर्मभेदी उपसर्गों के आगे न तो ध्यान से विचलित हुए और न भयभीत ही हुए क्योंकि वे परमतपस्वी और वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारी थे।

रुद्र के द्वारा ज्यों-ज्यों घोर उपसर्ग किये गये त्यों-त्यों वे वायु के निष्कंप पर्वत की तरह आत्म-ध्यान में अचल होते रहे। अन्त में वह रौद्ररूपधारी स्थाणु रुद्र के द्वारा किये गये उपसर्गों में सफलता प्राप्त न करने के कारण चुपचाप अपने स्थान पर चला गया।

यद्यपि सूर्यविरोधी तत्कार्यनिरोधीह शशी शत्रुः ।
कृत्यं तथापि कुरुते स्वीयं सूर्यो भयं मुक्त्वा ।। ३४ ।।

सप्तभयविप्रमुक्तः सम्यग्ज्ञानी च निर्भयो भूत्वा ।
विहरति निखिलस्थाने पुर्यावरन्तरं मुक्त्वा ।। ३५ ।।

समदृष्टियुतः साधुर्यतोऽस्ति सर्वत्र, नैव कुत्रापि ।
शत्रौ मित्रे विषमो विषमे च तत्र न साधुत्वम् ।। ३६ ।।

चन्द्रोदये यथा चन्द्रकान्तमणिर्द्रवति तथैव शत्रौ मित्रे वने भुवने सुखे दुःखे च योगे वियोगे वा समदृष्टिसम्पन्नस्य साधोर्गुणानां

यद्यपि सूर्य का विरोधी और उसके कार्य का निरोधी शत्रु चन्द्रमा है फिर भी सूर्य अपना कार्य तो निर्भय होकर करता ही है ।। ३४ ।।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष सात प्रकार के भयों से निर्मुक्त होकर हर एक स्थल पर विहार करता है । उसके चित्त में ग्राम-नगर आदि का भेद नहीं होता ।। ३५ ।।

चाहे शत्रु हो चाहे मित्र हो, सुख हो या दुःख हो, किसी भी प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में समदृष्टिवाला साधु विषम दृष्टिवाला नहीं होता । जहां ऐसी दृष्टि नहीं है वहां साधुत्व नहीं है ।। ३६ ।।

जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि द्रवित होने लगता है उसी प्रकार शत्रु-मित्र में, वन में, भवन में, सुख में, दुःख में, योग में और वियोग में समदृष्टिसम्पन्न साधु के गुणों के चिन्तवन करने से

चिन्तनाच्चिन्तकस्य दुरितानि विगलितानि भवन्ति । नयनाम्बुगलाञ्जनमिव पापानि पापान्यश्रुभिरिव तद्गुणैर्मनोगृहान्निष्कास्यन्ते लोकैषणाहीनान्तःकरणावृत्तयः साधवो दिगंगनालिङ्गितचारुकीर्तयो जायन्ते ।

वसन्तु ते मे हृदये मुनीन्द्रा भवोदधेः संतरणे पटिष्ठाः ।
यत्सेवयाऽन्येऽपि जनाः सुभक्ताः स्वं तारयन्त्याशु भवादमुष्मात् ।। ३७ ।।

स्वात्मानं साधयन्त्यादौ पश्चादन्यस्य चात्मनः ।
साध्वाचारप्रतिष्ठायां प्रोक्तास्त एव साधवः ।। ३८ ।।

न निन्दया खिन्नमतिः प्रसन्नः स्तुत्या न यः स्यात्सुखितः कदापि ।
एवं विधा यस्य समस्ति वृत्तिर्मुनिः स मान्यो भवति प्रपूज्यः ।। ३९ ।।

चिन्तवनकर्ता के दुरित द्रवित होने लगते हैं—विगलित होने लग जाते हैं। जिस प्रकार आंखों में लगा हुआ अंजन आंसुओं द्वारा वहां से बाहर कर दिया जाता है उसी प्रकार संत-साधुओं के गुणों द्वारा मनोगृह में से—चिन्तवन कर्ता के चित्त में से पाप निकाल दिये जाते हैं। साधुजन लोकैषणा से विहीन चित्तवृत्तिवाले होते हैं। इसी कारण उनकी सुहावनी कीर्ति चारों दिशारूपी अंगनाओं से आलिंगत हो जाती है।

जो साधुजन संसाररूपी समुद्र से पार होने में अत्यन्त पटु हैं वे मेरे मनमन्दिर में सदा विराजमान रहें। जिनकी सेवा करके अन्य भक्तजन भी अपने आपको इस संसार से पार लगा लेते हैं ।। ३७ ।।

"साध्नोति आत्मानमिति साधुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपनी आत्मा के हित करने में कटिबद्ध रहता है, पश्चात् अन्य जीवों का हित करता है वही साधु की आचारसंहिता में साधुपद से विभूषित किया गया है ।। ३८ ।।

साधुजन न तो अपनी निंदा में खेद-खिन्न ही होते हैं और न अपनी प्रशंसा में प्रसन्न ही। साधुजनों की ऐसी वृत्ति होती है। ऐसी वृत्तिवाला पवित्र आत्मा ही मुनि-साधु होता है, वही जगत्पूज्य होता है और सम्प्रदायातीत होने से सर्वजनमान्य होता है ।। ३९ ।।

हिता मिता यस्य भवेत्सुभाषा विगतताशाऽस्तगता च भूषा ।
दमी तपस्वी स्वपरानुकम्पी मुनिर्मनस्वी भयहीनवृत्तिः ॥ ४० ॥

साधुस्वरूपं प्रतिपद्य ये तु स्वेच्छानुरूपां प्रतिपालयन्ति ।
यतेः क्रियां हार्दिक भाव शून्यामाडंबरैस्तंबहुभिः सनाथाम् ॥ ४१ ॥

सिद्धान्तसिद्धामवमत्यमान्यामाज्ञां स्वरुच्यैव परं भजन्तः ।
जिनेन्द्रमार्गाद्बहिरेव तेऽत्र भवन्ति तन्मार्ग कलङ्क रूपाः ॥ ४२ ॥

काचान्तगा रवेः किरणाः, केन्द्रिता दाहका यथा ।
तपोभिः केन्द्रिता आत्मशक्तयः कर्मदाहकाः ॥ ४३ ॥

साधु-सन्तजन की भाषा हितकारक और परिमित होती है। साधु पंचेन्द्रियों के विषयों की चाहना से रिक्त रहता है। वेषभूषा से वह सर्वथा विहीन होता है। इन्द्रियविजयी होता है। तपस्या में रत रहता है। स्व और पर की दया के पालन करने में तत्पर रहता है। उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता और वह बहुत ही विचारशील होता है ॥ ४० ॥

जो साधु का रूप धारण करके भी अपनी इच्छा के अनुसार चलते हैं—मुनिक्रिया के पालन करने में हार्दिक भावना से शून्य होते हैं एवं बाह्य आडम्बरों में लथपथ बने रहते हैं ऐसे मुनिजन सिद्धान्तमान्य आज्ञा की अवहेलना करके अपनी रुचि के अनुरूप आचार-विचार में मग्न रहते हैं वे जिनेन्द्र के मार्ग से सर्वथा विपरीत हैं और मुनिमार्ग के कलङ्कस्वरूप हैं ॥ ४१-४२ ॥

काच के अन्तर्गत हुई ज्येष्ठमास के सूर्य की किरणें केन्द्रित होकर जैसे नीचे रखे हुए तूल आदि को जला देती हैं, उसी प्रकार तपस्या से केन्द्रित हुई आत्मशक्तियां भी कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट कर देती हैं ॥४३॥

इत्थं संचिन्त्य कर्मारिदहनार्थं मुमुक्षुभिः ।
तपसा सततं कुर्याद्वर्धमानेन वासितम् ॥ ४४ ॥

तर्काख्यशास्त्राब्धिविलोडनेन सरस्वतीरत्नमवापि येन ।
अम्बाविदासान्तपदोपगूढो विद्यागुरुर्मे जयताद् दयालुः ॥ ४५ ॥

नन्कू पौत्र पितामहेन रचिते काव्येऽत्र षष्ठो गतः,
एषोऽत्र स्तबकस्तनोतु नितरां विद्वज्जनानां मुदम् ।
यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे,
स्थेयात्तावदियं मया विरचिता चम्पूर्जनैरादृता ॥ ४६ ॥

श्री सटोले सुतेनेयं सल्लोभाग्युद्भवेन च रचिता मूलचन्द्रेण मालथौन-निवासिना ।

षष्ठः स्तबकः समाप्तः

इस प्रकार तपस्या की बलिष्ठता का विचार करके मोक्षाभिलाषी जीवों को बढ़ती हुई तपस्या से आत्मा को वासित करते रहना चाहिये ॥ ४४ ॥

मेरे विद्यागुरु पूज्यपाद अम्बादास शास्त्री (बनारस निवासी) थे। उन्होंने तर्कशास्त्ररूपी समुद्र का मंथन करके सरस्वतीरूपी रत्न प्राप्त किया था। ऐसे वे मेरे विद्यादाता गुरुदेव सदा जयवंत रहें ॥ ४५ ॥

नन्कू नामका मेरा पोता है। मैं उसके पिता का पिता हूँ। मैंने इस चम्पूकाव्य की रचना की है। इसका यह छठवां स्तबक समाप्त हो चुका है। जब तक नभमण्डल में चन्द्र और सूर्य चमकते रहें तब तक यह स्थिर रहे और विद्वज्जनों को आनन्द प्रदान करता रहे ॥ ४६ ॥

मेरा नाम मूलचन्द्र है। मैं मालथौन ग्राम का निवासी हूं—अर्थात् वह मेरी जन्मभूमि है। पिताश्री का नाम श्री सटोलेलाल और माता का नाम सल्लोबाई है। इस ग्रन्थ की रचना मैंने की है।

छठा स्तबक समाप्त

सप्तमः स्तबकः

कैवल्यप्राप्तिः

यथा, समिद्धमिन्धनं प्रदह्यते ऽग्निना स्वयम्,
तथैव कर्म संचितं प्रदह्यते तपस्यया ।
मुमुक्षुभिः प्रकर्षतः शुभाशयेन सर्वदा,
यथा यथा प्रसेव्यते प्रदह्यतेऽजितो विधिः ।। १ ।।

यथा मलविहीनस्य पदार्थस्य विशुद्धता ।
यथा विधिविहीनस्य जीवस्यापि विशुद्धता ।। २ ।।

सातवां स्तबक

जिस प्रकार ईंधन का ढेर अग्नि के द्वारा जला दिया जाता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा आत्मा में संचित हुए कर्म जला दिये जाते हैं—आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध होने से पृथक् कर दिये जाते हैं। अतः मुमुक्षुजन का कर्तव्य है कि वह विशिष्ट पुरुषार्थ के साथ सद्भावों से सर्वदा तपस्या की आराधना करे। क्योंकि जैसे-जैसे तपस्या प्रकर्षवती होती जावेगी तैसे-तैसे संचित कर्म विघटित होते जावेंगे ।। १ ।।

जिस प्रकार मल-विहीन पदार्थ में विशुद्धता—चमक—निर्मलता आ जाती है, उसी प्रकार कर्मविहीन आत्मा में भी विशुद्धता—निर्मलता—विशदता—आ जाती है ।। २ ।।

स्वस्य त्रैकालिकी शुद्धिर्मुक्तिः सैव तदाप्तितः ।
जन्ममृत्वादिक्लेशेभ्यो निर्मुक्तो मुनिनायकः ।। ३ ।।

चतुः कर्मक्षयेणैव जायते केवलाभिधम् ।
सुज्ञानं, सर्वलोकोऽयमणुवद्यत्र भासते ।। ४ ।।

जगति विद्यमानेषु पदार्थेषु यस्मिन् कस्मिश्चिदप्यर्थे यद्बहुमूल्यत्वं समादरणीयत्वं चाविर्भवति न तदनायासेन जायमानं विलोक्यते तदर्थं प्रभूत-प्रयत्नाः परिश्रमाश्च करणीया भवन्ति । यतस्तत्प्रबलायास कष्टसाध्यायिना भाव्यैव तदभावे तस्यानुपपद्यमानत्वात् । यथा गहनोत्खननानन्तरं भूमितो मृत्तिकापाषाणाद्याश्लिष्टं रत्नपाषाणसकलं मलिनमेव तावन्निर्गच्छति ।

आत्मा में जो त्रैकालिक विशुद्धता का वास है वही मुक्ति है । जीव को जब इसकी प्राप्ति हो जाती है तब वह मुक्तिकान्ता का नायक बन जाता है ।। ३ ।।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय इन चार कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञानरूप विशुद्धता की प्राप्ति जीव को हो जाती है । इस ज्ञान में लोकालोक अणु के जैसा झलकता रहता है ।।४।।

जगत् में जितने भी चराचर पदार्थ विद्यमान हैं उनमें से जिस पदार्थ में जो बहुमूल्यता एवं समादरणीयता आविर्भूत होती है वह उसमें अनायासरूप से आयी हुई नहीं देखी जाती है । इसके लिए तो बहुत अधिक प्रयत्न एवं परिश्रम करना होता है क्योंकि वह उनमें प्रबल आयास – कठोर परिश्रम और कष्ट से साध्य होती है अर्थात् ऐसा किये बिना वह उनमें नहीं आ सकती है । जैसे कोई रत्नपाषाण का अर्थी हो तो वह सर्वप्रथम भूमि को खोदता है । खोदते-खोदते उसे भूमि में से जो रत्नपाषाण मिलता है वह मिट्टी से मलिन हुआ ही मिलता है परन्तु जब

परन्तु तद् यथा टंकोत्कीर्णं घनघातितं सत् जायते शाणोल्लिखितं तदैव प्रकाशमानं रत्नं तस्माधाविर्भवति । एवमेवाग्निपुटपाकाभ्यां मुहुर्मुहुस्तापितं स्वर्णं सुवर्णं सच्चकास्ति तदैव च तत्र समादरणीयत्वं बहुमूल्योपेतत्वं च जायते । संसारोऽपि च तस्य बहुसमादरं विदधाति, सम्पूर्णमूल्येन बहूत्कंठया तत् क्रीणाति ।

आत्मास्त्यनंत ज्ञानादि वैभवपुंजस्तत्समो नास्ति कोऽप्यमूल्यः पदार्थो जगत्त्रये । रत्नवदात्मनो विभवोऽपि अनादिकालीनसंसक्तकर्ममलेनान्तर्हितत्वादनाविर्भूतोवर्त्तते । तस्मिन् कर्ममलेऽन्तर्हिते तद्वैभवं निखिलरूपेण शुद्धं विधाय प्रकटीकर्तुं महतः पुरुषार्थस्यानेकविधापतितकष्टसहनक्षमतायाश्चानिवार्यावश्यकताऽस्ति । तदैवायमात्मा परमविशुद्धः सन् विश्वविद्विश्ववंद्यः परमात्मपदप्रतिष्ठितो भवति ।

उसकी सफाई करने के लिए उसे शाण पर घिसता है और छैनी से उसे काटता—छांटता है और हथोड़े की चोट उस पर देता है तो चमकता हुआ रत्न उसमें से प्रकट होता है । इसी प्रकार खान में से निकला हुआ स्वर्ण-पाषाण अग्निपुटपाक के द्वारा बार-बार तपाया जाता है तो वह निर्मल होकर चमकने लगता है । ऐसी स्थिति में आने पर ही जैसे उनमें बहुमूल्यता और समादरणीयता आती है तथा संसार भी उनका बहुत आदर करता है एवं अधिक से अधिक कीमत देकर उन्हें खरीदता है ।

यह आत्मा भी इसी तरह अनन्तज्ञानादिरूप वैभव का पुंजरूप है । इसके जैसा अमूल्य और कोई पदार्थ तीन लोक में नहीं है । रत्न के वैभव के समान इसका वैभव भी अनादिकालीन कर्ममल से अन्तर्हित हो रहा है । इस कारण वह प्रकट नहीं हो पा रहा है । अतः उस कर्ममल के भीतर छिपा हुआ आत्मा का वैभव सम्पूर्ण रूप से शुद्ध करने के निमित्त बहुत बड़े पुरुषार्थ की और इस कार्य में आये हुए कष्टों को सहन करने की क्षमता की अनिवार्य आवश्यकता है । तभी यह आत्मा परम विशुद्ध होता है एवं विश्ववेत्ता—सर्वज्ञ और विश्ववंद्य होकर परमात्मपद पर विराजमान होता है ।

तीर्थंकर महावीरेणापि स्वात्मनः परमविशुद्धिकृते कठोरातिकठोर-तपसि चर्या कृता । तपस्येकलोलीभावेन संसक्तस्य तस्य पूर्वसंचित-कर्मराशि प्रत्येकक्षणं निर्जीर्णो भवन्नासीत् । कर्मास्रवस्तद्बन्धश्चाल्पीय-स्त्वं धत्ते स्म । आसीत्कर्ममलोऽपचीयमानोऽभवत् । एतेनात्मनः प्रच्छन्नं तेजस्तदोदीयमानं संभवदासीत् । अतः कर्मभारेण स्वल्पशक्तिवता दुर्निवारेणात्मनि प्रतिसमयं लघुत्वमागतम् । मुक्तिश्च प्रतिक्षणं तस्याति-निकटावस्थापन्नतां बधाति स्म ।

चारित्रधर्मेण विहीनबोधो कर्माणि दग्धुं नहि शक्तिशाली ।
यथा, तथा बोधविहीन एषोऽपि तानि हन्तुं न च हन्त ! शक्तः ।। ५ ।।

तीर्थंकर श्री महावीर ने अपने आपकी विशुद्धि के लिए कठोराति-कठोर तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया । वे उस तपश्चरण में दूध में पानी की तरह एकलोलीभाव से विलीन हो गये । उनकी संचित कर्मराशि प्रतिसमय—क्षणक्षण में निर्जीर्ण होने लगी । नवीन कर्मों का आस्रव एवं बंध बिलकुल न्यून अवस्था में होने लगा । अतः आत्मा में छिपा तेज प्रकट—उदित अवस्था वाला बन गया । इस कारण कर्मभार कम होने से आत्मा में प्रतिसमय हल्कापन आने लगा और मुक्तिस्त्री भी प्रतिक्षण उनके निकट होने लगी ।

जो आत्मा चारित्र धर्म से विहीन होती है वह कर्मों को दग्ध करने में शक्तिशाली नहीं बन पाती है । इसी तरह जो आत्मा सम्यग्ज्ञान से रहित होती है वह भी कर्मों को नष्ट करने में असमर्थ रहती है ।। ५ ।।

यथाहि कश्चित् प्लवनैकबोधविशिष्ट शिष्टोऽपि नरो न याति ।
क्रियां विना कूपनिमग्नकायस्तत्पारमस्यापि तथैव बोध्यम् ।। ६ ।।

ज्ञानक्रियाभ्यां खलु मोक्ष एष महोपदेशो जिनधर्ममर्म ।
प्रमाणभूतो वितथो न बाधा–विवर्जितो भव्यजनैः प्रसेव्यः ।। ७ ।।

कर्मारण्यं दहति नितरामेष चारित्रवह्निः ।
स्तस्मादन्यो भवति न परस्तत्प्रदग्धुं समर्थः ।
गुप्त्याद्यैः प्रज्वलति तरसा वायुनेवाग्निवत्सः ।
कर्मारोधे भवति च पुनस्तत्क्षये वा पटिष्ठः ।। ८ ।।

जैसे कोई तैरना जाननेवाला व्यक्ति पानी में—जलाशय में—कुए में गिर जाने पर तैरने की क्रियारूप हाथ-पैर चलाना आदि क्रिया न करे तो वह वहां से पार नहीं हो सकता इसी प्रकार ज्ञान यदि क्रिया से विहीन है तो वह ज्ञानी भी कर्मों को दग्ध करने में—आत्मा से उन्हें पृथक् करने में—समर्थ नहीं हो सकता है ।। ६ ।।

इसलिए ज्ञान और तदनुकूल क्रियारूप आचरण के योग से ही जीव आत्मशुद्धिरूप मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है । यह सर्वथा प्रमाणभूत है क्योंकि इसमें प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है । अतः वितथ न होने के कारण भव्यजनों को इसका पालन अच्छी तरह से करना चाहिये ।। ७ ।।

चारित्र की महिमा इस कारण से है कि वह अग्नि की तरह कर्म-रूपी वन को जड़मूल से नष्ट कर देता है । इसके सिवाय उसे और कोई भस्मसात् करने में समर्थ नहीं है । चारित्ररूपी अग्नि को धधकती बना देनेवाले साधन गुप्ति आदि हैं । वायु के वेग से जिस प्रकार अग्नि धधकने लगती है उसी प्रकार इन गुप्ति आदि साधनों से चारित्ररूपी अग्नि वृद्धिगत होती जाती है । यही नवीन कर्मों के आस्रव—आगमन—को रोककर संचित कर्मों को जला देती है ।। ८ ।।

ईदृश्यवस्थासमुपेतस्तपस्वी योगी तीर्थंकरो महावीरो विहरन् विहारप्रान्तस्थ–मगधदेशान्तर्गतग्रामस्य सन्निकटे वर्तमानाया ऋजुकूलाया नद्यास्तटं समासदत् । तत्र संस्थितस्य विशालसालविटपिनोऽधोभागे निषद्य प्रतिमायोगोऽनेनाधारि । स्वात्मध्याननिमग्नेनानेन सातिशयाप्रमत्तगुणमलाभि । तदनन्तरं चारित्रमोहनीयस्य कर्मण एकविंशति प्रकृतीः समुन्मूलयितुं क्षपकश्रेण्या अष्टमं गुणस्थानं समुपलब्धम् । शुक्लध्यानस्यात्र प्रथमो भेद पृथक्त्ववितर्काख्यः समुद्भूतः

उच्चैस्तर भवनस्योपर्यारोहणाय यथा श्रेणीबद्धा निःश्रेणय उपयुक्ता भवन्ति, तथैव भवभ्रमणनिदानस्य कर्मबंधमूलकारणस्य दुर्द्धर्षस्य मोहनीयस्य झटिति क्षयार्थं क्षपकश्रेण्युपयुक्ता जायते । कर्मक्षय-

---

ऐसी तपःसाधनारूप अवस्था-सम्पन्न योगी वे तपस्वी महावीर विहार करते हुए विहार प्रान्तस्थ—मगध देशान्तर्गत जृम्भिका ग्राम के निकट वर्तमान ऋजुकूला नदी के तट पर आये । वहां वे एक विशाल साल वृक्ष के नीचे विराजमान हो गये । वहां उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया । स्वात्मध्यान में निमग्न हुए उन्होंने सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान पर आरोहण किया । बाद में चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों को क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणी के प्रथम गुणस्थान अपूर्वकरण पर आरोहण कर शुक्लध्यान के प्रथम भेदरूप पृथक्त्ववितर्क को प्राप्त किया ।

जिस प्रकार किसी ऊंचे भवन पर चढ़ने के लिए श्रेणीबद्ध सोपान—पंक्ति उपयुक्त होती है, उसी प्रकार भवभ्रमण के कारणभूत कर्मबंध के मूलकारणरूप दुर्द्धर्ष मोहनीय कर्म को शीघ्र नष्ट करने के लिए क्षपक श्रेणी

योग्यानामात्मपरिणामानां प्रतिक्षणमसंख्यातगुणोऽतिरेच क्षपक श्रेणी। इयं च श्रेणी अष्टम, नवम, दशम, द्वादश गुणस्थानेषु भवति। त्रिष्वाद्येषु गुणस्थानेषु चारित्रमोहनीयकर्मणोऽवशिष्टानामेकविंशतिप्रकृतीनां शक्तेः क्रमशो ह्रासो भवति। आसां पूर्णक्षयस्तु क्षीणमोहाख्ये गुणस्थान एव जायते।

चारित्रमोहे विगलिते सति निखिलाः क्रोधमानमायालोभकाम-द्वेषादयः कषाया (विकृता भावाः) सर्वथाऽपुनर्भावेन विनष्टा भवन्ति। तदात्मापूर्णशुद्धवीतरागदशासंपन्नः समोहाविहीनः संजायते। तदनन्तरं द्वितीयं शुक्लध्यानमेकत्ववितर्काख्यं समुद्भूतं भवति। अस्मिन् जाते

उपयुक्त होती है। कर्मक्षय के योग्य आत्मपरिणामों की जो प्रतिक्षण असंख्यात गुणी उन्नति है यही क्षपकश्रेणी है। यह क्षपकश्रेणी आठवें, नवमें, दशवें और १२वें गुणस्थानों में होती है। आदि के तीन गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय कर्म की अवशिष्ट २१ प्रकृतियों की शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जाता है। इनका पूर्णक्षय तो १२वें गुणस्थान में होता है। बारहवें गुणस्थान का नाम क्षीणमोह है।

इस तरह जब चारित्र मोह विनष्ट हो जाता है तब क्रोध, मान, माया, लोभ, काम एवं द्वेष आदिरूप जो विकृत भाव हैं वे सब अपुनर्भाव से नष्ट हो जाते हैं। तब आत्मा पूर्ण शुद्ध वीतराग दशा से युक्त एवं समोहा—इच्छा से विहीन हो जाता है। इसके बाद शुक्ल ध्यान का द्वितीय पाया जो एकत्व-वितर्क है वह उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही

सत्येव ज्ञानदर्शनावरणयोः कर्मणो ज्ञानदर्शनावारकयोस्तथा वीर्यनिरोधक-स्यान्तरायकर्मणश्च क्षयो जायते। एतेषु विनष्टेषु सत्सु पूर्णज्ञानस्य पूर्ण-दर्शनस्य पूर्णबलस्य चात्मनि प्रादुर्भावो विकासो वा संजायते। एतेषां जातोऽयं पूर्णविकास एवैभिरनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तसुखानन्तबलाभि-धानैर्व्यवहृतो जायते। एतेषु सम्पूर्णगुणेषु पूर्णरूपेण विकसितेषु सत्स्वे-वात्मा समस्तभावेन ज्ञाता द्रष्टा भवति।

आत्मनि पूर्णज्ञातृत्वं पूर्णद्रष्टृत्वं च त्रयोदशे गुणस्थाने चैव सम्पद्यते। अतः आत्मन ईदृशी शुद्धदशैव त्रयोदशाभिधं गुणस्थानं निगद्यते।

ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय जो कि ज्ञान, दर्शन और वीर्य विशेष के निरोधक होते हैं, का क्षय होता है। इनके क्षय होते ही आत्मा में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन एवं पूर्ण बल का विकास हो जाता है। यह इनका पूर्ण विकास ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल इन शब्दों द्वारा कहा जाता है। इन सम्पूर्ण गुणों के विकास हो जाने पर ही आत्मा समस्त भाव से ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव में जो कि इसका मौलिक स्वरूप है, स्थापित हो जाता है।

आत्मा में पूर्णरूप से ज्ञातृपना और द्रष्टृपना १३वें गुणस्थान में पहुँचने पर ही होता है। इनकी प्राप्ति होना ही अर्थात् ऐसी शुद्धदशा होना ही—१३वां गुणस्थान कहा जाता है।

क्षपकश्रेण्या यानि गुणस्थानानि सन्ति तेषां समयोऽन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाणः । अस्मिन् काले योगी सर्वज्ञो जायते । वीतसर्वज्ञ पदावाप्तिरे-वात्मनो जीवन्मुक्तावस्था । सैव परमात्मा (अर्हन्) एवंविधेन शब्देना-ख्यायते । एतत्पूर्णोन्नतिरूपस्याथवा तत्पूर्णशुद्धिस्वरूपस्यात्मन इयद्बृहत्कार्यसमुत्पत्ताविyान् स्वधीयान् समयो लगति, तथापि तदैव सर्वो-त्कृष्टं कार्यमिदं संपादितं भवति यदाऽऽत्मा तपश्चरणेन शुक्लध्यानावि-र्भावयोग्य सामग्र्या संकलितो जायते ।

शुक्लध्यानस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामकस्तृतीयः पादोऽस्मिन् अयोदशे गुणस्थाने समाविर्भूतो भवति ।

आत्मोन्नतेरात्मशुद्धेर्वा वीतरागसर्वज्ञार्हज्जीवन्मुक्तपरमात्मपद-लाभस्वरूपाया अयं पंथास्तीर्थंकर महावीरेणापि समुपात्तः । तत्पदप्राप्ति-प्रक्रियामन्तरेण तस्याभावात् । पंचदशदिवसाधिकपंचमासोपेतानि

क्षपक श्रेणी के जो गुणस्थान हैं उनका समय एक अन्तर्मुहूर्त्त का है, इस समय में ही योगी सर्वज्ञ हो जाता है। वीतराग एवं सर्वज्ञपद की प्राप्ति ही आत्मा की जीवन्मुक्त अवस्था है। यह अवस्था ही परमात्मा अर्हन्त इन शब्दों से अभिहित होती है। यद्यपि इस पूर्ण उन्नतिरूप अथवा अपनी पूर्ण शुद्धिस्वरूप आत्मा के इतने बड़े कार्य की उत्पत्ति में इतना सबसे अल्प—कम—समय लगता है फिर भी सर्वोत्कृष्ट यह कार्य उसी समय सम्पादित होता है जब आत्मा तपश्चरण के द्वारा शुक्लध्यान को प्रकट करने योग्य सामग्री से युक्त हो जाता है।

इस १३वें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरे शुक्ल-ध्यान का भेद प्रकट होता है।

वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत जीवन्मुक्त एवं परमात्मपद के लाभ होने रूप आत्मोन्नति या आत्मशुद्धि का यह मार्ग तीर्थंकर श्री महावीर ने भी प्राप्त किया क्योंकि इस पद को प्राप्त करने की जो प्रक्रिया है, उस प्रक्रिया के बिना उस पद की प्राप्ति नहीं होती है। महावीर ने १२ वर्ष ५ माह और

द्वादशवर्षाणि यावत्[1] तपश्चर्यां विधाय तेन शुक्लध्यानस्याद्यो भेदोऽलाभि। तदनन्तरं पूर्वोक्तकथनानुसारेण तेन मोहनीय-ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तराधाख्यानि चत्वारि कर्माणि घात्यभिधानि क्षपितानि। एकस्मिन्नेवान्तमौहूर्त्तिके काले घातिकर्मप्रक्षयानन्तरमेव सर्वज्ञादिपदविशिष्टा पदावाप्तिस्तस्य जाता[2]। अतः स पूर्णशुद्धस्त्रिकालज्ञाता त्रिलोकज्ञः संवृत्तः। आसीदयं कालो वैसाखशुक्लाया दशम्या अपराह्णस्य।

तीर्थंकर महावीरेणेतः पूर्वं तृतीये भवे यदर्थं तपस्याऽकारि, अस्मिंश्च वर्तमाने भवे राजसुखस्य गृहपरिवारस्य च परित्यागः कृतस्तदुत्तमं कार्यं तस्य सिद्धिसौधासीनं जातम्। यथेदं तीर्थंकरस्य महावीरस्य महत्सौभाग्य-

---

१५ दिन तक तपश्चरण किया, तब उन्हें शुक्लध्यान का प्रथम भेद—पृथक्त्ववितर्क प्राप्त हुआ। पूर्वोक्त कथन के अनुसार उन्होंने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को समूल नष्ट किया। एक ही अन्तर्मुहूर्तकाल में घातिया कर्मों के विनष्ट होते ही वे सर्वज्ञपद से सुशोभित हुए अतः पूर्ण शुद्ध हुए वे त्रिकाल ज्ञाता और त्रिलोक के द्रष्टा बन गये। यह समय वैसाख शुक्लपक्ष १०मी तिथि के अपराह्न का था।

तीर्थंकर महावीर ने इस भव से पूर्व तीसरे भव में जिसके निमित्त तपस्या की थी और इस वर्तमान भव में जिसके निमित्त राजसुख एवं गृह परिवार का परित्याग किया था उनका वह सर्वोत्तम कार्य अच्छी तरह सिद्ध हो गया। जिस प्रकार यह तीर्थंकर महावीर का बड़ा सौभाग्य था

---

1. गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणिपंचमासेयपंचरसाणि दिणाणि यति रयणसुद्धो महावीरो ॥ —जयधवला भाग १
2. वैसाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥
वइसाह सुद्ध दहमी माहारिक्खम्मि वीरणाहस्स रिजुकूलनदीतीरे अवराण्हे केवलणाणं ॥ —तिलोयप०

मासीत् तथैव समस्तसंसारस्य विशेषतो भारतवसुंधराया अपि परमं सौभाग्यमासीत् । यत्तया सत्यज्ञाता सत्पथप्रदर्शकस्तथाऽसाधारण-प्रभावशालिवक्ता च समुपलब्धः । जातस्तस्यास्तीर्थंकर महावीरेणो पात्तायास्तीर्थंकृत्प्रकृतेरुदयस्य सुवर्णावसरः ।

श्री तीर्थंकरनामकर्मशकलं बद्धाऽच्युते योऽभवत् ।
शक्रोदेवसमूहसंस्तुतभवः कल्पे विकल्पातिगः ।
दिव्यस्त्रीनयनाभिरामसुकुरो दिव्याम्बरो भूषणैं ।
दिव्यैस्तैः समलंकृतोऽवधियुतो दिव्यर्धिवृद्ध्यन्वितः ।।६।।

भुक्त्वा स्वः सुकृतोदयेन विविधान् भोगोपभोगान् परान् ।
तत्रत्यान् गलितस्थितिः समभवत्सिद्धार्थभूपात्मजः ।
त्यक्त्वा राज्यसुखं विहाय जननीतातं मुनिर्योऽभवत् ।
हत्वा कर्मरिपून् प्रबोध्य भविकानन्तेऽथ मुक्तिं गतः ।। १० ।।

उसी प्रकार समस्त संसार का एवं विशेषतः भारत वसुंधरा का भी यह परम सौभाग्य था जो उसे ऐसा सत्यज्ञाता एवं सत्पथप्रदर्शक असाधारण प्रभावशाली वक्ता प्राप्त हुआ । भगवान् महावीर ने जो तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध किया था उसके उदयकाल का स्वर्ण अवसर अब उन्हें प्राप्त हुआ ।

श्री तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध करके जो अच्युत कल्प में इन्द्र की पर्याय से उत्पन्न हुए, देवों ने वहां जिनके भव की बारम्बार स्तुति की, देवाङ्गनाएँ जिन्हें देखदेखकर अपने नयनों को सफल मानतीं, जो दिव्य वस्त्रों से एवं दिव्य आभूषणों से सदा अलंकृत रहते, देशावधि वहां उत्पन्न होते ही जिन्हें प्राप्त हो गया एवं दिव्य ऋद्धि से जो समन्वित बने ।। ६ ।।

वहां के विविध दिव्य भोगों को भोगते-भोगते जिन्हें अपनी गलित हो रही स्थिति—आयु—का पता तक नहीं पड़ा—भान नहीं हुआ और वहां की भुज्यमान आयु जब समाप्त हो चुकी तो वहां से च्युत होकर जो सिद्धार्थ नरेश के पुत्र बने, पश्चात् राज्य सुखों का परित्याग करके और माता-पिता के प्यार को भी छोड़कर के जिन्होंने मुनि दीक्षा धारण की एवं कर्म शत्रुओं को परास्त करके तथा भव्यजीवों को सद्बोध देकर जो मुक्ति को प्राप्त हुए ऐसे वे वीर प्रभु सदा जयवन्त रहें ।। १० ।।

च्युत्वा तस्मात्त्रिदशवनिताजीतकीर्तेर्महिष्याः,
सिद्धार्थस्य प्रथितयशसो ज्ञातृवंशस्य राज्ञः ।
कुक्षौ शुक्तौ मणिरिव विभुः शान्तिदोऽवातरत्सः,
सत्यं तावद्भवति महतां जन्म स्वान्योदयाय ।। ११ ।।

तपांसि तप्त्वा विविधानि येन निजात्मशुद्धिः समवापि येन,
कैवल्यमुद्भाव्य विभाव्य सम्यक् कुबोधतम्याऽऽवृतजीवलोकम् ।
व्यवधायि सज्ज्ञानमयः प्रकाशो वीरातिवीराय नमोऽस्तु तस्मै,
सौभाग्यमेतत्खलु भारतस्य यस्मिन् प्रजज्ञे त्रिशलासुतोऽयम् ।। १२ ।।

उस अच्युत स्वर्ग (१६वें कल्प) से च्युत होकर भगवान् महावीर का जीव ज्ञातृवंशीय यशस्वी नरेश सिद्धार्थ की पटरानी की कुक्षि में अवतरित हुआ । त्रिशला महिषी की महिमा—कीर्ति की गाथा—स्वर्ग की देवियों ने मुक्तकंठ से गाई । सिद्धार्थ का यश भी चतुर्दिग् व्यापी हो गया । सच बात तो यह है—कि त्रिशला की कुक्षि में महावीर का जीव इस प्रकार रहा जिस प्रकार शुक्ति में मुक्ताफल रहता है । त्रिशला के गर्भवती होने से समस्त बन्धुजनों को अपार हर्ष हुआ । सच है महापुरुषों का जन्म स्वयं के और अन्य प्राणियों के अभ्युदय के लिये होता है ।।११।।

महावीर प्रभु ने छद्मस्थ अवस्था में अनेक प्रकार के तपों की आराधना की और उनके प्रभाव से उन्हें कर्मक्षय होने पर कैवल्य प्राप्त हुआ । उसे प्राप्त कर उन्होंने अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित हुए इस जीव लोक को सम्यग्ज्ञान रूप प्रकाश प्रदान किया । ऐसे उस वीरातिवीर प्रभु को मेरा नमस्कार हो । यह भारत देश का परम सौभाग्य है कि जिसके प्राङ्गण में त्रिशला का ऐसा लाल जन्मा ।। १२ ।।

परीषहा यस्य न चित्तवित्तं हर्तुं सशक्ता अपि संबभूवुः ।
वीराय दुर्वारमनोजवीर्यविच्छेदिने सन्मतये नमोऽस्तु ॥ १३ ॥

घातिकर्माणि संघात्य कैवल्यं समवाप्य च ।
धार्मिकज्ञानरिक्तेभ्यो नृभ्यो बोधमसावदात् ॥ १४ ॥

वह्नेस्तापो गुरुवर ! यथा कच्चलं स्वर्णवर्णम् ।
अन्तर्भूत्वा मलविरहितं सर्वशुद्धं करोति ।
एवं स्वामिन्नसि मम मनोगेहमन्तर्गतस्त्वम् ।
स्वल्पं ज्ञानं समलमपि मे निर्मलं स्यान्न किञ्चित् ॥ १५ ॥

तपस्या काल में उन्होंने अनेक परीषह सहे । वे परीषह सशक्त थीं—फिर भी वे उनके चित्तरूपी धन को हरण करने में समर्थ नहीं हो सकीं । जिसके प्रभाव के आगे बड़े-बड़े वीर नत-मस्तक हो गये ऐसे उस दुर्वार्य वीर्यशाली कामदेव के मन का मान मर्दन करनेवाले सन्मति—महावीर को मेरा नमस्कार हो ॥ १३ ॥

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन ४ घातिया कर्मों को समूल नष्ट करके जिन्होंने केवलज्ञान आदि रूप अनन्त चतुष्टय प्राप्त किया और उसे प्राप्त कर फिर जिन्होंने धार्मिक ज्ञान शून्य जनता को धर्म का स्वरूप समझाया ऐसे वीर प्रभु को मेरा नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे गुरुदेव ! जिस प्रकार अग्नि का ताप मलिन स्वर्ण के भीतर प्रविष्ट होकर उसके भीतर बाहर की मलिनता को नष्ट कर देता है और उसे निर्मल कर चमका देता है उसी प्रकार आप मेरे मन मन्दिर में विराजमान हैं अतः मेरा समल स्वल्प ज्ञान भी यदि निर्मल हो जाता है तो इसमें कौनसी अनोखी बात है ॥ १५ ॥

राकेशपौत्रस्य पितामहेन कृते जगामैष समाप्तिमत्र ।
कैवल्यरूपः स्तबको विदध्याद्विपश्चितां चेतसि मोदभारम् ॥ १६ ॥

यावद्नाजति शासनं जिनपते यावच्च गंगाजलम् ।
यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
तावन्मे भुवि वर्धमानचरितं चम्प्वाख्यमेतत् सताम् ।
चित्तं ह्लादयतु व्रजेषु विदुषां पापठ्यमानं सदा ॥ १७ ॥

श्री सटोलेसुतेनेयं सल्लोमातृकुक्षिभवेन च ।
रचिता मूलचन्द्रेण मालथौनाप्तजन्मना ॥ १८ ॥

सप्तमः स्तबक समाप्तः

राकेशकुमार के जनक के जनक द्वारा निर्मित इस वर्धमानचम्पू काव्य में यह कैवल्य रूप स्तबक समाप्त हुआ, यह विद्वानों के मन को आनन्ददायक हो ॥ १६ ॥

जब तक इस धराधाम पर जिनेन्द्र का शासन शोभित है, गंगा का जल प्रवाहित है तब तक मेरा यह वर्धमानचम्पू जिसमें वर्धमान प्रभु का चरित्र वर्णित हुआ है विद्वन्मंडली में सुन्दर रीति से पठित होता हुआ सन्तजनों के चित्त को आनन्दित करता रहे ॥ १७ ॥

श्री सटोलेलालजी के सुपुत्र और श्री सल्लोमाता की कुक्षि से जन्मे मुझ मूलचन्द्र ने इस चम्पू—वर्धमानचम्पू—की रचना की है। सागर जिलान्तर्गत मालथौन मेरी पवित्र जन्मभूमि है ॥ १८ ॥

सप्तम स्तबक समाप्त

अष्टमः स्तबकः

समवशरणम्

हे वीर ! नागदमनीव तव स्तवोऽयम्,
संसारतीव्रगरलं भविनां निहन्ति ।
पापठ्यमानमहिदष्टजनस्य मंत्रं,
किं न प्रभो ! विषविकारमपाकरोति ॥ १ ॥

गर्भस्थेऽपि त्वयि सति विभो ! व्याधयो वाऽऽधयो वा,
नष्टा जाता प्रथगतमिदं प्राणिनां त्वत्प्रसादात् ।
साक्षात्त्वां ये नयनचषकैर्मुक्तकंठं पिबन्ति ।
तेषां तासां विकटनिचयो नश्वरः किं न भूयात् ॥ २ ॥

अष्टम स्तबक

समवशरण

हे वीर प्रभो ! आपका यह स्तव संसारस्थ जीवों के संसाररूपी तीव्र विष को नागदमनी के समान वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे सर्प से दष्ट व्यक्ति के विष को जपा जा रहा मंत्र—विषनाशक मंत्र—नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

हे विभो ! यह बात जगजाहिर है कि जब आप स्वर्ग लोक से च्युत होकर त्रिशला माता के गर्भ में अवतरित हुए तो आपके उस प्रभाव से प्राणियों की आपत्तियां एवं विपत्तियां सब नष्ट हो गई, तो जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं या जो करते हैं उनकी भयंकर आपत्ति-विपत्तियों का समूह क्यों नहीं नष्ट होता होगा ॥ २ ॥

चित्रं चित्रं सुचरितमिदं यत्प्रभो ! ध्यानतस्ते,
त्वादृग्जीवस्त्रिभुवनपतिर्जायते, दृश्यते हि ।
लौह: स्वर्णं भवति मलिनः पारदस्य प्रयोगात्,
स्वामिँस्तेऽस्ति प्रबलमहिमा कोऽप्यपूर्वो न वाच्य: ।। ३ ।।

दिगम्बरत्वाद्भवता न किञ्चित्,
प्रदीयते भक्तजनाय कस्मै ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य: ।। ४ ।।

देवाधिदेव ! भवतां विहितं यदत्र,
स्वल्पायुषाऽपि तव तच्चरितं पुनाति ।
जेगीयमानमिह मानवचित्तवृत्तिं,
तस्मात्प्रसन्नमनसेदमहं ब्रवीमि ।। ५ ।।

हे प्रभो ! आपका चरित्र बहुत ही अधिक अचरजकारी है क्योंकि जो उसका ध्यान करता है वह आपका जैसा ही त्रिभुवनपति बन जाता है, परन्तु विचारने पर अचरज इसलिए नहीं होता कि मलिन लोहा पारद के योग से सोना बनता हुआ देखा जाता है ।। ३ ।।

हे नाथ ! आप दिगम्बर हैं—दिशाएं ही आपके वस्त्र हैं । इसलिए आप अपने भक्तजन को कुछ भी नहीं देते—फिर भी आपके पावन गुणों की स्मृति हम लोगों के चित्त को पापरूपी अंजन के लेप से बचाती रहती है ।। ४ ।।

हे देवाधिदेव ! आपने थोड़ी सी आयु में (७२ वर्ष की अवस्था में) ही जो कार्य किया जब उस पवित्र कार्य का गुणगान किया जाता है, तो वह मानव की चित्तवृत्ति को पावन कर देता है । इसी विचार से मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ आपके चरित्र का वर्णन कर रहा हूं ।। ५ ।।

इत्थं संस्तुतो भगवान् महावीरोऽधुना सर्वज्ञाता सर्वदर्शी संजातो यदा कतिपयविशिष्टचिह्नैः सौधर्माधिपतिना शक्रेणेति विज्ञातं तदैतद्वृत्तं तस्योदर्कान्तं विज्ञाय तस्यामन्दानन्दोत्कर्षः परां काष्ठामियाय । तत्कालमेव तेन स्वकीय कोषाध्यक्षमाहूय कथितं यत्त्वं तीर्थंकरस्य महावीरस्य महोपदेशो विश्वकल्याणकारी सर्वसाधारणजनताकृते स्यादतएवैकं सर्व-मनोहरं भव्यं विस्तृतं व्याख्यानसभामंडपं निर्मापय ।

तदाज्ञां प्रमाणीकृत्य कुबेरेणाशु दिव्यसाधनैरेकोऽतिविशालो मनोहरः सभामण्डपो निर्मापितः । आसीदयं त्रिभिर्वप्रैश्चतुर्भिश्च गोपुरैः समलङ्कृतः, द्वाराणि च मानस्तम्भकैर्मानस्तम्भैः सनाथान्यासन् । तद्व्याख्यानसभामंडपे तिसृभिः कटिनीभिः परिक्षिप्ता रम्यैका वेदिका-

---

इस प्रकार जनता द्वारा पूजित भगवान् महावीर अब सर्वज्ञाता सर्वदर्शी हो चुके हैं ऐसा जब कतिपय विशिष्ट चिह्नों द्वारा सौधर्माधिपति शक्र ने जाना तो उसके आनन्द का पारावार नहीं रहा । उसी समय उसने अपने कोषाध्यक्ष कुबेर को बुलाया और उसे आदेश दिया कि तुम तीर्थंकर भगवान् महावीर का विश्वकल्याणकारी महोपदेश सर्वसाधारण जनता के लिए सुलभ हो इस निमित्त एक सर्वमनोहर भव्य विस्तृत व्या-ख्यानसभा-मण्डप का निर्माण करो ।

इस आज्ञा को शिरोधार्य करके कुबेर ने शीघ्र ही दिव्य साधनों द्वारा एक भव्य अतिविशाल चित्ताकर्षक सभामण्डप तैयार करा दिया । वह व्याख्यानमण्डप तीन कोटों और चार गोपुरों से, मानी के मान को गलित करनेवाले मानस्तम्भों से युक्त था । उस व्याख्यानसभामण्डप में तीन कटनियों से घिरी हुई एक सुन्दर वेदिका थी । इसका दूसरा नाम गंध-

ऽपराभिधाना गन्धकुटी निर्मिता। तस्या उपरि विविधमणिभिर्निखितमेकं सिंहासनं तदुपरिमध्ये च पुष्करमेकं विनिर्मितम्। गन्धकुटीमभितो द्वादश-संख्याका विशालप्रकोष्ठा आसन्। येषु प्रभोरुपदेशश्रोतॄणां देवदेवीनूनारी-साधु-साध्वी-पशुपक्ष्यादीनामुपवेशनार्थं समुचिता व्यवस्था कृताऽऽसीत्। तथैतदतिरिक्तानामागन्तुकजीवानां सुविधाकृतेऽन्यान्यपि समुचितानि स्थानानि साधनानि च तस्मिन् समवशरणे विरचितान्यासन्। आसीच्च मध्यवर्तिन्यास्तस्या गंधकुटिन्या उपरि संस्थापिते हर्यासने प्रभोर्महावीरस्य तीर्थकर्तुरुपदेशनार्थं वरिष्ठा व्यवस्था, येन तस्योपदेशः श्रोतृभिःसुखं सुखे-नाधिगतो भवेत्।

निबद्धय तीर्थंकरनामकर्म गत्वाऽथ वैमानिकदेवलोकम्।
तत्रत्य भोगानुपभुज्य पश्चाच्च्युत्वा ततो ये ऽत्र समुद्भवन्ति ॥ ६ ॥

भवन्ति तेषां नियमेन पंच-कल्याणकानीह सुरेन्द्रवृन्दैः।
संपादितान्युत्तमपुण्यराशेर्विशिष्ट माहात्म्य निवेदकानि ॥ ७ ॥

—युग्मम्

कुटी भी है। उसके ऊपर महारत्नों से खचित एक सिंहासन था। सिंहासन के ऊपर एक कमल बना था। गन्धकुटी के चारों ओर १२ विशाल प्रकोष्ठ थे। जिनमें प्रभु के उपदेश को सुननेवाले देव-देवी, नर-नारी, साधु-साध्वी एवं पशु-पक्षी आदि के बैठने की समुचित व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त और भी आगन्तुक जीवों की सुविधा के लिए अन्य-अन्य समुचित स्थानों की, साधनों की समुचित व्यवस्था यहां की गई थी। समवशरण के ठीक मध्य भाग में वर्तमान उस गन्धकुटी के ऊपर एक सिंहासन स्थापित था। उस पर प्रभु वीर के बैठने की सुन्दर व्यवस्था थी जिससे उनका धर्मोपदेश श्रोतागण अच्छी तरह सुन सकें।

तीर्थंकरनामकर्म का बंध करके जो वैमानिक देवलोक में उत्पन्न होते हैं उनके नियम से पांच कल्याणक होते हैं। ये पांच कल्याणक देवेन्द्रों द्वारा संपादित होते हैं। इनसे पुण्यराशि का विशिष्ट माहात्म्य जाना जाता है ॥ ६–७ ॥

तीर्थंकराख्यप्रकृतेः प्रभावाद्धर्यादिवंशेषु समुद्भवानाम् ।
कल्याणका ये च भवन्ति पंच नामानि तानीत्यमहं ब्रवीमि ॥ ८ ॥

प्रथमं गर्भकल्याणं जन्माख्यं च द्वितीयकम् ।
दीक्षाभिधं तृतीयं च ज्ञानाह्वयं चतुर्थकम् ॥ ९ ॥

मोक्षाख्यं पंचमं ज्ञेयं धर्मतीर्थविधायिनाम् ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि धन्यस्तेषां भवोऽङ्गिनाम् ॥ १० ॥
—युग्मम

वीरेण केवलं लब्धं यदा ज्ञातं सुराधिपैः ।
तदा संभूय सर्वस्तैरागतं तत्र हेलया ॥ ११ ॥

शक्रादिष्टकुबेरेण यथाशीघ्रं विनिर्मितः ।
विस्तृतो मंडपश्चैको द्वादशकोष्ठसंयुतः ॥ १२ ॥

तीर्थंकर-प्रकृति के प्रभाव से ऐसे जीव हरिवंश आदि उत्तम वंशों में ही उत्पन्न होते हैं । उनके जो पांच कल्याणक होते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—॥ ८ ॥

(१) गर्भकल्याणक, (२) जन्मकल्याणक, (३) दीक्षाकल्याणक, (४) ज्ञानकल्याणक और (५) मोक्षकल्याणक । ये पांचों कल्याणक धर्म तीर्थंकरों के ही होते हैं । उनका ही मानव-जन्म धन्य है ॥ ९–१० ॥

वीर प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है, इन्द्रों ने जब ऐसा जाना तो वे सब के सब एकत्रित होकर क्षण भर में वहां उपस्थित हो गये ॥११॥

शक्र ने उसी समय अपने कोषाधिपति कुबेर को बुलाकर आदेश दिया कि तुम एक सुरम्य विस्तृत सभामण्डप की रचना करो । इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर कुबेर ने उसी समय बारह कोठों से युक्त सभा-मण्डप तैयार कर दिया ॥ १२ ॥

चङ्घच्चारुवृहद्ध्वजोऽतियुतं सर्वासु दिक्षु स्थितम् ।
मानोन्मादविमोचकं स्मयवतां सार्थाभिधानं महत् ॥ १३ ॥

मानस्तंभ चतुष्टयं समभवत्तच्छद्मनैव प्रभोः ।
रेजेऽनन्तचतुष्टयं किमिह भोः ! कर्मक्षयेणोत्थितम् ॥ १४ ॥

मानस्तंभा भवन्त्येते चत्वारो मण्डपाद्बहिः ।
त्रिभिर्वप्रैश्चचतुर्भिश्च गोपुरैरेव राजते ॥ १५ ॥

सरोभिः पुष्पवाटया च क्रीडोद्यानेन संयुते ।
मंडपे राजते रम्या गंधकुटयाख्यवेदिका ॥ १६ ॥

उस सभामण्डप की चारों दिशाओं में बड़ी ध्वजाओं से युक्त चार मानस्तम्भ बनाये गये। ये मानस्तम्भ सार्थक नाम वाले थे क्योंकि इनको देखते ही मानियों का मान—अभिमान चकनाचूर हो जाता था ॥ १३ ॥

यहां कवि की ऐसी कल्पना है कि प्रभु के प्रकट हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय ही इन चार मानस्तम्भों के व्याज से सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४ ॥

ये चारों मानस्तम्भ सभामण्डप के बाहिर होते हैं। सभामण्डप तीन कोटों और चार दरवाजों से युक्त था ॥ १५ ॥

वहां खेलने का मैदान भी बनाया गया था। तालाब और बगीचों की भी रचना की गई थी। मण्डप में एक गंधकुटी—वेदिका—भी बनाई गई थी ॥ १६ ॥

तन्मध्ये राजते रम्यं मणिनिर्मितमासनम् ।
यत्र संस्थित्य धर्मेशो धर्मं शास्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥

जन्मजातानि वैराणि मुक्त्वा तिष्ठन्ति देहिनः ।
साम्यभावं समाश्रित्य तस्मिन धर्मसभास्थले ॥ १८ ॥

तदनन्तरमेव देवदुंदुभीनां निनादो मोदोत्कर्षनिदानोऽभूत् । तासां प्रभूतदूरस्थायिनं चित्ताकर्षकं मधुरध्वनिं निशम्य दविष्ठदेशवर्तिनामपि जनानां चेतसि जातोऽयं विनिश्चयो यत्तीर्थकर्तुं महावीरस्य समवशरणं रचितमिति । यदेदृशी वार्ता बहुदूरस्थानामपि कर्णयुगलगोचरा

इस गंधकुटी के ठीक मध्य भाग में मणिजटित एक सुन्दर सिंहासन निर्मित किया गया था जिस पर अन्तरीक्ष में विराजमान होकर तीर्थंकर महावीर धर्म का उपदेश करेंगे ॥ १७ ॥

उस धर्मसभा में प्रभु की दिव्यवाणी को सुनने के भाव से आगत प्राणी--तिर्यञ्च गति के जीव--जन्मजात वैर को छोड़कर परस्पर बड़े प्रेम से अपने कोठे में बैठते हैं और प्रभु का उपदेश सुनते हैं और सब अपनी-अपनी भाषा में उसे हृदयंगम करते रहते हैं ॥ १८ ॥

इसके अनन्तर देवदुन्दुभियां बजने लगीं जिसे सुनकर लोगों को अपार हर्ष हुआ । इनकी दूर-दूर तक फैली हुई चित्ताकर्षक मधुर ध्वनि को सुनकर दूर-दूर स्थानों पर रहने वाले मनुष्यों के चित्त में ऐसा निश्चय हो गया कि तीर्थंकर महावीर का समवशरण रचा जा चुका है । ऐसी बात जब उन मनुष्यों के कान में पड़ी जो बहुत दूर-दूर तक रह रहे थे, तब

जाता तदा ते संत्यक्तसर्वसंगस्य मुक्तकवलाहारस्य, स्वीकृताम्बराम्बरस्य, तपःश्रीवल्लभस्य, त्रिभुवनललामभूतस्याष्टमंगलद्रव्यनवनिधिसमेत नाट्यशाला धूपघटघंटाध्वजाभिराम नागकुमार द्वारपालक विराजिते तस्मिन् तस्य देवस्य दिव्यधर्मोपदेशश्रवणोत्कंठया दूरदूरादपि समागत्य-र्जुकूलानद्यास्तटे निर्मिते सभामण्डपे समावेशा अभवन् । विस्तृतदेवसमूह-परिवारैः परितः परिवृतः शक्रोऽपि तत्र समुपस्थितोऽभवत् । तत्रोपस्थितेन मणिमयसिंहासनमधितिष्ठतश्चतुरंगुलगगनतले शोशुभ्यमानस्य तीर्थंकर्तुः केवलपदस्य तेन महामहिमोपेतो महोत्सवः कृतः । पश्चाद् भक्त्या प्रणम्य समभ्यर्च्य चैवं संस्तुतिस्तेन प्रभो स्तने । तथाहि—

वे सब सर्वप्रकार के परिग्रह से विहीन, कवलाहार से विहीन, आकाशरूपी वस्त्र से सुशोभित, तपःश्री के परम प्यारे, त्रिभुवन के तिलक ऐसे महावीर के अष्टमंगल और नवनिधि समेत समवशरण में उनके दिव्य उपदेश को सुनने की उत्कंठा से प्रेरित होकर एकत्रित होने लगे । यह समवशरण नाटकशाला से, धूपघटों से एवं ध्वजाओं से तथा घंटाओं से चित्ताकर्षक था । नागकुमार जाति के भवनवासी वहां द्वारपाल के पद पर नियुक्त थे । समवशरण की रचना ऋजुकूला नदी के तट पर हुई थी । इन्द्र भी अपने समस्त देव परिवार से घिरा हुआ वहां आया । वहां आकर उसने मणिमयी सिंहासन पर चार अंगुल अधर विराजमान महावीर प्रभु के कैवल्य पद का महान् उत्सव किया । इसके बाद भक्तिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके एवं पूजा करके इस प्रकार प्रभु की स्तुति की—

नाथ ! त्वया निजहिताप्तिकृते समुत्थ—,
भाव—प्रवाह—परिपूरित—मानसेन ।
त्यक्तं समृद्धमभयप्रदमङ्गदेश—,
वैशालिराज्यमरिकंटक-शून्य-माढ्यम् ॥ १६ ॥

त्रिंशत्सुवत्सरमितं समयं ह्यनेषी,
हे त्रैशलेय निवसन् निजसद्मनि त्वम् ।
तोये पयोज इव नाथ ! च पूर्वजन्म—,
स्मृत्याऽभवः सुमतिकोष ! मुनिर्युवत्वे ॥ २० ॥

यस्य ज्ञानं ह्यतिशययुतं पुण्यकर्म प्रशस्तम्,
ध्वस्ता यस्मान्मदनविकृतिश्चाकृतिः सोमसौम्या ।
धैर्यं यस्याविचलितमहो वंदनीयं मुनीन्द्रैः
शक्तः कः स्यात् त्रिभुवनगृहे संस्थितं तं विकर्तुम् ॥ २१ ॥

हे नाथ ! आपने आत्मकल्याण करने के निमित्त उत्पन्न हुए भावों के प्रवाह से परिपूरित मनवाले होकर बिहार प्रान्तस्थ वैशाली के समृद्ध, अभयप्रद, शत्रुरूपी कंटक से शून्य ऐसे विशाल राज्य का परित्याग किया ॥ १६ ॥

आप पानी में कमल की तरह निर्लिप्त भाव से ३० वर्ष तक राजमहल में रहे । वहां रहते-रहते आपको सहसा अपने पूर्वभव की स्मृति आ जाने से भर जवानी में आपने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली ॥ २० ॥

हे प्रभो ! आपका ज्ञान अतिशय सम्पन्न है । पुण्यकर्म भी आपका सर्वोत्कृष्ट है । कामदेव भी आपके चित्त को विचलित नहीं कर सका । आकृति भी आपकी चन्द्रमा के जैसी सलोनी है । धैर्य भी आपका अविचल है । मुनीन्द्रों द्वारा आप वंदनीय हैं । त्रिभुवनरूपी गृह में रहते हुए ऐसे आपको ऐसा कौन शक्तिशाली है जो विचलित कर सके ॥ २१ ॥

स्वामिन् ! जाता जगति महिता भारती ते, यतः सा,
हेयादेयप्रकटनपराऽऽवित्यरूपाऽस्तदोषा ।
मिथ्यामार्गं परशुनयतः खंडयन्ती विपक्षम्,
स्वस्यां पूर्णां ह्यविजितपरा ज्ञानिनस्तां श्रयन्ते ।। २२ ।।

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति,
जना यदित्थं प्रवदन्ति लोके ।
न सर्वथा सत्यमिदं यतश्च,
विभो ! तथा सन्ति न ते गुणास्ते ।। २३ ।।

त्वां ये परीक्ष्यैव तथाऽपरीक्ष्य भजन्ति ते सन्ति फले समानाः ।
बुद्ध्वाऽप्यबुद्ध्वाऽप्यहिफेनमत्र जनो ह्यदन् याति समानवृत्तिम् ।। २४ ।।

हे नाथ ! संसार में आपका धर्मोपदेश इसलिए पूज्य हुआ है कि वह निर्दोष सूर्य के समान हेय और उपादेय का ज्ञान—भान—कराता है । जिस प्रकार परशु काट छांटकर पदार्थ को—काष्ठ को—अभिलषित रूप में ला देता है, उसी प्रकार स्याद्वादरूपी आपकी भारती भी सदोष विपक्ष—एकान्त पक्षों का निराकरण कर उसे अभिलषित अर्थ की—हेय और उपादेय की उद्‌बोधक होती है । इसलिए परीक्षाप्रधानीजन उसका आश्रय करते हैं ।। २२ ।।

हे स्वामिन् ! संसारस्थ जीवों की जो ऐसी मान्यता है कि जितने भी गुण हैं वे सब काञ्चन के आश्रित होते हैं—अर्थात् धन के होने पर ही सुशोभित होते हैं सो ऐसी मान्यता सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि आपके जो ज्ञानादि गुण हैं वे बिना द्रव्य के भी जगत्पूज्य हो रहे हैं ।। २३ ।।

हे नाथ ! मनुष्य चाहे परीक्षाप्रधानी हो चाहे आज्ञाप्रधानी, किसी भी स्थिति में आपकी सेवा, पूजा, भक्ति आदि करने पर फल तो उन दोनों को समान ही मिलता है । जैसे ज्ञात अवस्था में अथवा अज्ञात अवस्था में खाई गई अफीम अपना नशा खाने वाले को देती है ।। २४ ।।

येषां विभो ! नास्त्यनुशासकस्त्वम्,
मिथ्यैव तेषां वचनानि तैस्तु ।
प्रतार्यते प्राणिगणस्त्वदुक्त—,
वाचा यथेच्छं लभते फलं सः ॥ २५ ॥

हृद्यागते भवति नाथ ! कषायभावा,
मन्दा भवन्ति भविनां च तव प्रभावात् ।
चित्रं किमत्र शिथिला अहयो भवन्ति,
मध्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ २६ ॥

देवादयो विचलिता अपि यत्प्रभावात्,
ते च त्वयैव विजिता विषयाः कषायाः ।
विध्यापिताग्नि सलिलं खलु वार्धिगेन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर वाडवेन ॥ २७ ॥

हे नाथ ! जिनके आप अनुशासक नहीं हैं उनके वचन—मान्यताएँ मिथ्या ही हैं। उनके अनुसार चलनेवाला—प्रवृत्ति करनेवाला प्राणी सच्ची सुख शांति प्राप्त नहीं कर पाता है परन्तु आपके वचनों पर चलने वाला प्राणी ही अपने अभिलषित अर्थ को प्राप्त कर लेता है—सच्ची सुखशांति पा लेता है ॥ २५ ॥

हे नाथ ! जिस प्रकार मयूरों के चन्दनवृक्ष के नीचे आने पर उन पर लिपटे हुए सर्पों के बन्धन शिथिल हो जाते हैं उसी प्रकार मन-मन्दिर के अन्दर आपके आने पर भव्यजनों के कषायभाव मन्द हो जाते हैं ॥२६॥

हे नाथ ! विषय जिन कषायों के द्वारा देवादिक भी विचलित हो गये उन विषयकषायों को आपने ही नष्ट किया है। सच है—जो जल अग्नि को बुझा देता है उसे क्या समुद्र का वडवानल नष्ट नहीं कर देता ॥ २७ ॥

हे ज्ञातृवंशवनचंदन ! ते प्रणीतं धर्मामृतं भुवि निपीय भवन्ति भव्या: । तृप्ता वदामि नितरां धुतकल्मषास्तां किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ २८ ॥

मुक्तिश्रिया परिवृतो ऽसि विभो ! त्वयापि,
सा वा वृता प्रथितमेतदभूच्च श्रुतम् ।
तां त्वां वरीतुमथ संचलितं निरीक्ष्य,
संपात्यते ह्युपरि देवगणैः प्रमोदात् ॥ २९ ॥

उत्फुल्लराजिरथवा हृदयेऽमराणां,
या धर्मवल्लिरतिदीर्घतराऽजनिष्ठ ।
तस्याश्च भक्तिपवनेन च कम्पिताया-,
द्रागाऽपतत्कुसुमराशिरमेय एष: ॥ ३० ॥
—युग्मम्

हे ज्ञातृवंशरूपी वन के चन्दन ! आपके द्वारा प्रणीत धर्मरूप अमृत का पान कर भव्यजन तृप्त हो जाते हैं—अमर बन जाते हैं, एवं उनके कल्मष धुल जाते हैं । मैं सच कहता हूं कि विपत्तिरूपी नागिन ऐसे जीवों के पास तक फटक नहीं पाती है ॥ २८ ॥

हे नाथ ! जब यह समाचार देवों को ज्ञात हो गया कि मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने आपको पसन्द कर लिया है और आपने भी उसे पसन्द कर लिया है तो जब आप उसे संवरण करने के लिए प्रस्थित हुए तो उसे देखकर हर्षित देवों ने आपके ऊपर पुष्पों की वृष्टि की है अथवा—देवों के हृदय में जो धर्मरूपी बेल बढ़ी-फूली फली वह अब भक्तिरूपी पवन से हिली है तो उससे यह अमेय पुष्पराशि बहुत ही शीघ्र नीचे गिरी है ॥ २९-३० ॥

सिंहासने विविधरत्नराशिशिखाभिरामे त्वां सुस्थितं ननु संवीक्ष्य सदस्यमाला जानातीवमेव किमिदं विराजमानं तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेर्बिम्बमिति ।

संसारसिन्धुतरणे तरणीयमानं योऽङ्घ्रिद्वयं च शरणं समुपैति भव्यः ।
अस्य प्रभोर्भवति मुक्तिपतिः स इत्थं खे दुन्दुभि ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥ ३१ ॥

त्वद्ध्यानतः परमपावन ! नाथ ! जीवाः,
त्वत्संनिभा यदि भवन्ति किमत्र चित्रम् ।
दृष्टा रसायनवशाद्धि समाप्नुवन्त—,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ ३२ ॥

हे नाथ ! विविधरत्नों की शिखा से मनोहर सिंहासन पर विराजमान आपको देखकर यह सदस्यमण्डली यही जानती है कि मानो यह उदयाचल पर्वत की चोटी पर विराजमान सूर्य का बिम्ब ही है।

हे जिनेन्द्र ! आपके यश का गुणगान करनेवाली आकाश में बजती हुई दुन्दुभी यही प्रकट करती है—जगत् को सन्देश देती है—कि हे भव्य जीवो ! जो तुम संसार–समुद्र से पार होकर मुक्तिपति बनना चाहते हो तो संसार–समुद्र से पार लगाने के लिए नौका के समान इस प्रभु के चरणों की शरण ग्रहण करो ॥ ३१ ॥

हे परमपावन नाथ ! यदि आपके ध्यान के प्रभाव से ध्यानकर्ता आप जैसा बन जाता है तो इसमें कोई अचरज जैसी बात नहीं है कारण कि—रसायन के योग से धातुभेद—लोहा—भी तो बहुत शीघ्रता से स्वर्ण बनता हुआ देखा जाता है ॥ ३२ ॥

कस्तूरिकामोद इव प्रसिद्धा त्वयि स्वभावाद्विभुता, यथाऽर्धौ ।
अस्ति प्रकृत्या गरिमा, न देव ! स्तोकापवादेन जलाशयस्य ।। ३३ ।।

सत्यं जिनेन्द्र ! जगतीह मुमुक्षवस्ते,
तावत्त्वदीयचरणं च समाश्रयन्ते ।
यावत्प्रभो ! न हि भवन्ति च मुक्तिकान्ता–,
कान्ताश्च ते नीतिरपश्चिमैषा ।। ३४ ।।

क्षुधादिदोषैः परिवर्जितोऽसि हितोपदेष्टाऽसि च विश्ववेत्ता ।
छद्मस्थ बोधाविषयोऽस्यतस्त्वां वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ।। ३५ ।।

हे नाथ ! आप में जो प्रभुता है वह कस्तूरी में उसकी गंध के समान स्वाभाविक है । किसी वस्तु –सुगन्धित द्रव्य–के अपवाद से नहीं है अतः समुद्र में गरिमा की तरह आप में प्रभुता प्रकृति सिद्ध ही है ।। ३३ ।।

हे जिनेन्द्र ! यह तो सत्य है कि जो मुमुक्षुजन हैं वे तभी तक आपके चरणों का सहारा लेते हैं जब तक उन्हें मुक्ति का लाभ नहीं होता । नीति भी ऐसी ही है कि कार्य सिद्ध हो जाने पर कारण की फिर क्या चाहना होती है ।। ३४ ।।

हे नाथ ! आप काल की कला से रहित हैं, क्षुधादि १८ दोषों से विहीन हैं, हितोपदेष्टा है एवं विश्व के ज्ञाता हैं, छद्मस्थजनों के ज्ञान के आप अविषय हैं—अर्थात् छद्मस्थ जन आपके स्वरूप को साक्षात् जान नहीं सकते अतः आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है ।। ३५ ।।

तुभ्यं नमोऽस्तु हरिचिह्नित चारुमूर्ते,
तुभ्यं नमोऽस्तु मुनिनायक ! विश्वभर्त्रे ।
तुभ्यं नमोऽस्तु नरजन्मविकाशकर्त्रे,
तुभ्यं नमोऽस्तु भवबन्धनमूलहर्त्रे ॥ ३६ ॥

श्री वर्धमान ! महनीय ! नमोऽस्तु तुभ्यं,
तुभ्यं नमोऽस्तु भववीत नरेन्द्रसेव्य ।
भव्यारविन्दरविबिम्ब ! वृषोपदेशात्,
त्वं तारयिष्यसि भवाब्धिनिमग्नजीवान् ॥ ३७ ॥

जीवो यावच्चरति न यथाख्यात–चारित्रतेजः,
मुक्तिद्वारं भवति पिहितं तस्य तावन्नितान्तम् ।
इत्थं वृत्तं दिशति भवतो नोऽथ वृत्तिः परन्तु,
नः पर्यायो भवति नितरां हा ! यमाद्विप्रमुक्तः ॥३८॥

हे सिंह के चिह्न से अंकित—मूर्तिविभूषित प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार है। हे मुनिनायक ! आप विश्व के भर्ता हैं अतः आपको मेरा नमस्कार है। मानव जन्म का सर्वोत्कृष्ट विकास करनेवाले हे नाथ ! आपको मेरा नमस्कार है। हे भवबन्धन के मूल को जड़ से चकनाचूर करनेवाले वीर प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार है ॥ ३६ ॥

हे महनीय—जगत्पूज्य श्री वर्धमान ! आप अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी के अधिपति हो—आप भववीत—जन्म, जरा और मरण से रहित हो चुके हो, आप नरेन्द्र—चक्रवर्ती एवं श्रेणिक आदि नरेशों द्वारा पूज्य हो, भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए आप सूर्य हो, आप धर्मोपदेश देकर संसारसागर में निमग्न हुए जीवों को पार लगानेवाले हो अतः आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है ॥ ३७ ॥

हे नाथ ! आपकी यह वृत्ति हम सबको यही शिक्षा देती है कि जीव जब तक यथाख्यातचारित्ररूपी तेज को धारण नहीं करता तब तक उसके लिए मुक्ति का द्वार ढकदम बन्द रहता है परन्तु हम देवों की पर्याय ही हे प्रभो ! ऐसी है जिसमें संयम का अभाव है। हमको यही दुःख है ॥ ३८ ॥

इत्थं गन्धकुटीमध्यसमिद्धसिंहासनोपरि विराजमानं पूर्वाचल—शिखरोपरि समारूढं दिनमणिमिव भगवन्तं महावीरं चञ्चच्चामरनिकर—धौव्यमानं संस्तुत्य प्रणम्य समर्च्य च परांकाष्ठामापन्नया भक्त्या भरितान्तःकरणेन करकुशेशययुगलं संयोज्य तेन पुनरपि निवेदितम्—

स्वामिंस्तेऽस्ति प्रबलमहिमा ह्यन्यथा सिंहगावौ,
मार्जाराखू शुनकहरिणावेककोष्ठे कथं वा ।
संतिष्ठेते प्रकृतिजनितं वैरभावं विहाय,
प्रत्यासत्ति यदि न भवतस्तस्य तच्छ्वितहेतुः ।। ३६ ।।

इस प्रकार गन्धकुटी के मध्य में रखे हुए समृद्ध सिंहासन पर विराजमान भगवान् महावीर की जो ऐसे प्रतीत होते थे मानो पूर्वाचल की चोटी पर विराजमान सूर्यबिम्ब ही हो, स्तुति करके और उनको नमस्कार करके इन्द्र अधिक से अधिक आनन्दित हुआ । उस समय भक्त देवगण प्रभु वीर के ऊपर चँवर ढोर रहे थे । इन्द्र ने प्रभु की पूजा की और भक्ति के अतिशय से जिसका अन्तःकरण ओत-प्रोत हो रहा है ऐसे उस इन्द्र ने पुनः दोनों करकमलों को जोड़कर इस प्रकार कहा—

हे नाथ ! आपका यह अपूर्व प्रभाव है जो अपने जन्मजात वैरभाव का परित्याग कर एक ही प्रकोष्ठ में सिंह और गाय, बिल्ली और चूहा, कुत्ता और हरिण शान्तिपूर्वक बैठे हुए हैं । यदि ऐसा न होता तो ये सब आपस में परमप्रीतिपूर्वक कैसे बैठते ? ।। ३६ ।।

तदनन्तरं तेन मनोमन्दिरमध्यस्थानमलभमानेनामन्दानन्द-संदोहेन पुलकितगात्रः स समवशरणस्य समुचितव्यवस्थामकार्षीत् । आसीत्तत्र समवशरणे महान् न्यक्कृतरविरश्मिभास्वरप्रभामण्डलः प्रकाश-पुंजः । अनैरन्तरतत्र संस्थितैः प्राणिभिर्निशातदवसानयोर्भेदो विज्ञातो न भवति स्म । सर्वोत्कृष्टा शान्तिस्तत्राशान्तेः कारणाभावादासीत् । भ्रान्तिः क्लान्तिर्वा कस्याप्यसुमतः स्वान्ते नाजायत । तत्रागतानां सर्वेषां प्राणिनां चित्ते वैर-कलह-विद्वेष-क्रोध-जिघांसास्वरूपाः परिणामाः स्वप्ने-ऽपि नैवाजागरिषुः । अतस्तत्रैकस्मिन्नेव प्रकोष्ठे जन्मजातानि वैराणि त्यक्त्वा सर्वे जीवाः तिष्ठन्ति स्म ।

इसके बाद हृदय-मन्दिर के अन्दर नहीं समाये हुए हर्षोत्कर्ष से जिसका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा है ऐसे उस इन्द्र ने उस समवशरण की पूर्णरूप से समुचित व्यवस्था की। समवशरण में महान् प्रकाश ही प्रकाश था इसलिए वहां उपस्थित प्राणियों को दिन और रात्रि का भेद ज्ञात नहीं होता था। अशान्ति के कारणों का अभाव होने के कारण वहां शान्ति का ही एकच्छत्र साम्राज्य था। भ्रान्ति एवं क्लान्ति वहां उपस्थित मनुष्यों आदि में देखने में नहीं आती थी। वहां वैर, कलह, विद्वेष, क्रोध एवं हिंसा के परिणाम भी नहीं होते थे। इसलिए वहां जन्मजात वैर-भाव को छोड़कर एक ही कोठे में सिंह गाय, व्याघ्र मृग, मार्जार मूषक, सर्प और नकुल आदि जानवर परम प्रीतिभाव के साथ निर्भय होकर सन्त पुरुषों की तरह एक ही साथ बैठे रहते हैं।

उस समवशरण में जो असंख्यात—अपार भव्य समूह तीर्थंकर भगवान् महावीर की दिव्यदेशना सुनने के लिए बड़ी उत्कंठा एवं प्रबल उत्साह के साथ आया था वह प्रभु की वाणी—ध्वनि—कब खिरती है इस आशा से वहां अपने-अपने स्थान पर बैठा रहा।

"चन्द्रिकापानं चकोराणामिति नीत्या चन्द्रिका चकोराणामतिप्रिया भवति, अतश्चकोरपक्षी शुक्लपक्षे रात्रौ निर्निमेषदृष्ट्या चन्द्रमसं यथाऽवलोकयति तथैव समवशरणस्था जनताऽपि तीर्थंकर महावीरस्यास्यावलोकयन्त्यवातिष्ठत् । एकमपि तीर्थंकर्तराननं चतसृषु दिक्षु समवलोकयतां सुस्पष्टं दृष्टिपथं समायाति । यथा वर्षर्तुप्रारंभे चातकः स्वीयां पिपासां नभस्तलान्निपततो वारिबिन्दून् स्वचञ्च्वाऽऽदाय प्रशमयति सलिलंचान्यन्नो कांक्षते । अस्मादेव कारणात् स मेघाभिमुखं स्वमुखं विधाय वृष्टिं प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । तथैव जनतायाः श्रोत्राणि तीर्थंकरस्योपदेशं श्रोतुमानुराण्यासन् ।

तत्र समुपस्थितानामनेकेषां विपश्चितामराणां च मानसे विचारधारेदृश्युद्गात् यत्तीर्थंकरोऽयमियन्तं कालं तु तूष्णीमास्थायैव व्याहरत् । तपस्यासमये छद्मस्थावस्थासम्पन्नत्वेन नैकोऽपि शब्दस्तेन कंचिदपि

जिस प्रकार चकोरपक्षी को चन्द्रिका का पान प्रिय लगता है, इसीलिए वह शुक्लपक्ष में रात्रि के समय चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाये बैठा रहता है, उसी प्रकार समवशरणस्थ जनता भी तीर्थंकर महावीर प्रभु के मुंह की ओर टकटकी लगाये बैठी रही । तीर्थंकर का एक ही मुख चारों दिशाओं में बैठे हुए मनुष्यों को स्पष्टरूप से पूरा का पूरा दिखाई देता है । जिस प्रकार वर्षाकाल के प्रारम्भ में चातक पक्षी अपनी प्यास को शान्त करने के लिए नभस्तल से पड़ती हुई जलबिन्दुओं को अपनी चोंच से ग्रहण कर—शान्त कर अन्य जल को वह चाहता नहीं है इसी से वह मेघ की तरफ अपनी चोंच को किये रहता है और मेघवृष्टि की चाहना में बैठा रहता है, उसी तरह जनता के कर्णयुगल भी तीर्थंकर के उपदेश को सुनने के लिए उनकी ओर लालायित हो रहे थे ।

वहां उपस्थित अनेक मानवों के, अमर—देवों—के और विद्वज्जनों के मन में ऐसी विचारधारा उदित हुई कि ये तीर्थंकर महावीर इतने समय तक तो चुपचाप—मौन—विहार करते रहे, तपस्या के समय में छद्मस्थ होने के कारण मुख से एक शब्द भी किसी से नहीं कहा । अब तो इन्हें

प्रयुक्तः। अधुना तु तेन केवलज्ञानं समुपलब्धम्। छद्मस्थदशाऽप्यस्य व्यतीता। तीर्थंकरप्रकृतेरुदयोऽपि जातः। पूर्वेषां तीर्थंकराणामिवास्यापि विश्वोद्धारविधायिना सर्वसत्वहितकारिणा पवित्रोपदेशेनावश्यमेव भवितव्यम्। परन्तु दिवसावसानो जातः। विभावरी व्यतीता। प्रभातवेला समागता। तथापि तीर्थंकरमुखादेकोऽपि शब्दो नो निर्गतः। विलम्बस्य कारणं किमत्रेति श्रोतृभिर्न ज्ञातम्। केचित् तत्रैव संस्थिताः, केचित्तु पूर्वागता, अनेके समुत्थाय गताः। नवागताः केचिच्च तत्रैव संस्थिताः प्रभोर्वाणीं श्रोतुमुत्कंठयाऽकितचित्ताः।

एवमेव द्वितीयदिवसोऽपि विनिर्गतः। क्षणदाऽपि क्षण इव क्षयं गता। तथापि तीर्थंकरस्य तस्य केवलिनो दिव्यध्वनिर्न निर्गतः। इत्थं कियन्तो दिवसा यदा व्यतीतास्तदा जनतायाश्चेतसि किञ्चिन्म्लानता प्रादुर्भूता। व्यतीतेषु कियत्सु दिवसेषु ततस्तस्य विहारोऽभवत्। ततोऽन्यत्र विहरतस्तस्याग्रेऽग्रे प्रचलति स्म धर्मचक्रं, तस्य भास्वरा प्रभा बुधानामपि चेतसि चमत्कारं विदधती क्षणं यावत् द्वितीयादित्यारेकामातनोति स्म।

केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। छद्मस्थ अवस्था रही नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति का भी उदय हो चुका है। पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की तरह इनका भी विश्वोद्धारक, सर्वप्राणिहितकारक एवं पवित्र धार्मिक उपदेश होना चाहिये, परन्तु दिन व्यतीत हो गया। रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रभात वेला आ गयी। फिर भी अब तक प्रभु के मुखारविन्द से एक भी शब्द नहीं निकल रहा है। विलम्ब का कारण क्या है ? यह बात श्रोताजनों की समझ में नहीं आ रही थी। इस स्थिति में भी कितने ही श्रोता जन तो वहीं पर बैठे रहे। कितने ही वहां से उठकर चले गये और कितने ही नवीन-नवीन श्रोता वहां आकर बैठने लगे।

इसी तरह द्वितीय दिवस भी निकल गया। क्षण की तरह रात्रि भी व्यतीत हो गई परन्तु तीर्थंकर वर्धमान प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। इस तरह अब कितने ही दिन व्यतीत हो चुके तब जनता के चित्त में म्लानता आने लगी। महावीर प्रभु ने कुछ दिनों के बाद वहां से विहार कर दिया! विहार करते हुए उनके आगे-आगे धर्मचक्र चल रहा था। उसकी प्रभा इतनी अधिक भास्वर थी कि विद्वानों या देवों के चित्त में भी चमत्कार उत्पन्न करती हुई द्वितीय सूर्य की शंका उत्पन्न कर देती थी।

यदाऽसौ तीर्थंकरस्तस्मादप्यन्यत्र विहृत्य गच्छति स्म तदा कुबेरोऽपि तत्कृत्यं दिव्यं समवशरणं विघटयति स्म। स्वल्पकालेनैव पूर्ववज्जायते स्म तत्र समतलोभूमिभागः। यत्र यत्रासौ तीर्थंकरो विहृत्यागात्तत्र तत्र कुबेरोऽपि सभामंडपं सशोभमरचयत्। तत्रापि तस्मिन्नसंख्याताः श्रोतारो धर्मोपदेशशुश्रूषयाऽऽगच्छंति स्म। परन्त्वनेकेषु वासरेषु गतेषु रजनीषु निर्गतासु अपि प्रभोर्धर्मोपदेशो यदा नाभवत्तदा जनतापि विस्मयापन्नाऽभवत्। परं मौनस्य कारणं केनापि न विज्ञातं, सर्वेषां धारणा तु इयमेवासीत् यदसौ महावीरस्तीर्थंकरोऽस्ति नो मूककेवली, अतोऽस्योपदेशेन नियमेन भाव्यम्। परन्तु कदाऽसौ भविष्यतीति न विज्ञायते।

ततोऽपि विहारं विधाय राजगृहीनगरनिकटस्थं विपुलाद्रिं समायातः। समवशरणरचनाऽपि तत्र जाता। जनताऽपि अपरिमिताऽऽगता। परन्तु तत्रापि प्रभोरुपदेशो नाभवत्।

जब वर्धमान तीर्थंकर केवली एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते-करते पहुँच जाते तो कुबेर पहिले स्थान पर रचे गये सभामण्डप को विघटित कर देता एवं वहां का भूमि भाग पहिले की तरह समतल हो जाता एवं उनके वहां पहुँचते ही दूसरा सभामण्डप रचकर तैयार कर देता। वहां पर भी असंख्यात जन धर्मोपदेश सुनने की कामना से आकर उपस्थित हो जाते। इस प्रकार होते होते जब अनेक दिवस निकल गये, रात्रियां भी समाप्त हो गईं और प्रभु के मौन का क्या कारण है ? यह वह नहीं जान सकी। सबकी धारणा तो यही थी कि ये महावीर तीर्थंकर हैं, मूककेवली नहीं हैं, अतः इनका धर्मोपदेश तो अवश्य ही होना चाहिए परन्तु कब वह होगा कोई पता ही नहीं पड़ता।

प्रभु ने वहां से भी विहार कर दिया और विहार करते-करते वे राजगृही के निकटस्थ विपुलाचल पर आ गये। वहां पर भी कुबेर ने समवशरण की रचना की, उसमें भी अपार जनता एकत्रित हुई परन्तु यहां पर भी प्रभु की दिव्यदेशना नहीं हुई।

समवशरणव्यवस्थापकेन सौधर्मदेवलोकाधिपतिना शक्रेण स्वावधिना प्रभोर्दीर्घकालीनस्य मौनावलम्बनस्य किमस्ति निदानमिति यदा गम्भीरतापूर्वकं विचारितं तदा तेन विज्ञातं यदधुनापर्यन्तमपि समवशरणे प्रतिभाशालीदृग् विचक्षणो जनः कोऽपि नोपस्थितो यस्तीर्थंकर-स्यास्य गूढगंभीरार्थार्पितं दिव्योपदेशं निशम्य तं च हृदयवधार्य प्रकरणबद्धं विधाय श्रोतृणां जिज्ञासाया यथार्थं समाधानं कुर्यात् । अवबोधयेच्च सर्वेभ्य स्तस्योपदेशमिति । इदानीमपि एवंविधं गणधरपदं समलंकर्तुं कश्चिदपि मुनिवरोऽत्र नास्ति । अतस्तीर्थंकरस्य वाणी मुखरिता न जायते ।

तदनन्तरं तेनावधिज्ञानेनेदमपि प्रबुद्धं यत्साम्प्रतं तीर्थंकरस्य गणधरपदं वोढुं "इन्द्रभूतिगौतमः" विद्वद्वरेण्यः सक्षमोऽस्ति । परन्तु स

तब समवशरण की व्यवस्था करनेवाले इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के द्वारा 'प्रभु के दीर्घकालीन मौन का क्या कारण है ?' ऐसा विचार किया । गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उसने यह जाना कि अभी तक भी समवशरण में ऐसा कोई प्रतिभाशाली विद्वान् (गणधर) उपस्थित नहीं हुआ है जो इन तीर्थंकर के गूढ गम्भीर अर्थवाले उपदेश को सुनकर उसे अपने हृदय में अवधारण कर सके एवं उसे प्रकरणबद्ध कर श्रोताओं की जिज्ञासा का समुचित समाधान कर सके तथा उन सबको प्रभु के उपदेश को अच्छी तरह समझा सके । इस समय तक भी ऐसे उत्तरदायी गणधर पद को अलंकृत करने के लिए यहां ऐसा कोई मुनिवर भी नहीं है, इसीलिए तीर्थंकर की वाणी प्रकट नहीं हो रही है ।

इसके बाद उसने अपने अवधिज्ञान से यह भी जाना कि इस समय विद्वद्धुरीण इन्द्रभूति गौतम गणधर पद को वहन करने में सक्षम है परन्तु

तीर्थंकरं प्रति श्रद्धासम्पन्नो नोऽस्ति । सत्वधुनाऽतत्त्वश्रद्धाकलितशेमुषीको वर्तते । यद्यपि स केनाप्युपायेनासौ तीर्थंकरसम्पर्कमासादयेत्तदा तच्छ्रद्धाभक्तिसंपन्नो भूत्वा तद्गणधरपदमारोहेत् । मनस्येवं संप्रधार्य शक्रेण स्थविरविप्रवेषं विधाय वेदवेदाङ्गानां विशिष्टज्ञातुरप्रतिमप्रतिभाशालिनो विद्वदग्रेसरस्य पंचशतविनेयानां शास्तुरिन्द्रभूतिगौतमस्य सन्निधौ गतम् । गत्वा चोक्तम्—

श्रुत्वा पवित्रं तव नामधेयं तूर्णं मुदाऽभ्यर्णमिहागतोऽस्मि ।
वेदाङ्गवेदज्ञ ! सुलब्धकीर्ते नमोऽस्तु तुभ्यं विदुषां वरेण्य ।। ४० ।।

वह तीर्थंकर के प्रति श्रद्धासम्पन्न नहीं है क्योंकि इस समय वह अतत्त्व श्रद्धानी है । यदि वह किसी भी उपाय से महावीर तीर्थंकर के सम्पर्क में आ जाता है तो उनकी श्रद्धा भक्ति से सम्पन्न होकर उनका गणधर बन सकता है । ऐसा हृदय में निश्चित करके इन्द्र ने वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया और वह वेदवेदाङ्ग के विशिष्ट ज्ञाता एवं असाधारण प्रतिभाशाली इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा । इन्द्रभूति गौतम उस समय ५०० शिष्यों के शास्ता थे एवं विद्वानों के बीच में एक अग्रगण्य विद्वान् थे । वहां पहुँच कर उसने कहा—

"हे वेदवेदाङ्ग के विशिष्ट ज्ञाता ! आपने अपने पाण्डित्य के बल पर बहुत बड़ी कीर्ति अर्जित की है । आपका पवित्र नाम सुनकर ही मैं बड़े हर्ष के साथ आपके निकट आया हूं । हे विद्वद्वरेण्य ! मैं आपको प्रणाम करता हूं ।। ४० ।।

अपूर्वमहिमाढ्य ! जगत्प्रसिद्ध ! मुहुर्मुहुस्त्वां शिरसा नमामि ।
पृच्छामि पाठं गुरुणा प्रदत्तं स विस्मृतो हा ! मयकाऽल्पबोधात् ॥ ४१ ॥

विपश्चितां संसदि गीयमानं तवाभिधानं महताऽऽदरेण ।
निशम्य धीमत्सुधुरीण ! पार्श्वे ज्ञातुं च पाठार्थमितोऽस्मितेऽहम् ॥ ४२ ॥

कृपां विधायाशु च बोधय त्वं,
मह्यं तदर्थं गुरुणोपदिष्टम् ।
अयं स पाठोऽस्त्यवलोकयैनम्,
प्रोच्येति तं दर्शयति स्म मोदात् ॥ ४३ ॥

हे अपूर्व महिमाशालिन् जगत्प्रसिद्ध गुरुदेव ! मैं पुनः आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं । आपश्री के पास मैं इसलिए आया हूं कि मेरे गुरुदेव ने मुझे जो पाठ पढ़ाया है उसमें अल्पज्ञानी होने के कारण भूल गया हूं ॥ ४१ ॥

विद्वानों की सभा में अति आदर के साथ प्रशंसित आपके नाम को सुनकर हे धीमद्धुरीण ! उस पाठ के अर्थ को समझने के लिए मैं आपके पास आया हूं ॥ ४२ ॥

आप मुझ पर दया करके शीघ्र ही गुरु के द्वारा उपदिष्ट उसके अर्थ को मुझे समझा देवें । वह पाठ इस प्रकार है—आप देखें—ऐसा कहकर उसने उन्हें वह पाठ दिखा दिया ॥ ४३ ॥

इत्थमुक्त्वा प्रदर्श्य च तं पाठं पुनरपि चेतसि समाकुलतया तेन विनम्रभावेन गदितं—विद्वद्धौरेय ! मद्गुरुवरेण तीर्थंकरेण त्रिकालज्ञोऽयं पाठः श्लोकस्वरूपः सार्थो मह्यं पाठितः, परन्तु तस्यार्थो विस्मरणं गतः। भवन्तश्च विद्वन्मूर्धन्याः। अतो दयां विधाय तदर्थो विस्फोटनीयः। श्लोकः स चेत्थम् श्रृण्वन्तु भवन्तः! —

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव-षट्काय-लेश्याः ।
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः ।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥

स्वमान्यता प्रतिकूलं षट्कायादिविचित्रपदोपश्लिष्टं श्लोकमिमं दृष्ट्वा पुनश्च तन्मुखाच्छ्रुत्वाऽऽश्चर्यचकितः सन्निन्द्रभूति विचारनिमग्नमनाः संजातः। चिन्तितं तेन षण्णां द्रव्याणां नवानां पदार्थानां षट्कायजीवानां

ऐसा कहकर और वह पाठ दिखाकर भी चित्त में आकुलित होने के कारण उसने बड़ी नम्रता के साथ कहा—हे विद्वद्वरेण्य ! सुनिये—मेरे सर्वज्ञ तीर्थंकर गुरुदेव ने मुझे यह श्लोक अर्थ सहित पढ़ाया है परन्तु अफसोस है—दुःख है कि मैं उसका अर्थ भूल गया हूं अतः आपकी विद्वता की पराकाष्ठा सुनकर मैं आपके पास आया हूं। कृपाकर आप मुझे उसका अर्थ स्पष्ट करके समझा दीजिये। वह श्लोक इस प्रकार है—"त्रैकाल्य-मित्यादि" इस श्लोक को पुनः देखकर और पुनः उसके मुख से पढ़वाकर इन्द्रभूति विचारों में डूब गया। उसने सोचा—मैंने अभी तक श्लोकोक्त न तो ६ द्रव्यों के नाम सुने हैं, और न नौ पदार्थों के, न षट्काय सुने हैं, न

लेश्यानां पंचास्तिकायानां श्लोकोक्तानां सर्वेषां पदानां नामान्यपि मया कदाचिदपि क्वचिन्न श्रुतानि, नाधिगतानि । यद्यप्यस्मि वेदवेदाङ्गानां विशिष्टविज्ञाताऽहं तथाप्यार्हतस्यानधिगतत्वादहं ज्ञाता नास्मि । अतः कथमहं श्लोकोक्तानां पदानां परमार्थत्वमेनं बोधयेयम् । कथं वा एनं प्रत्यहमेवं कथयेयं यदहमेतेषामर्थं न वेद्मीति इत्थमुक्तौ मय्यागच्छत्यनभिज्ञता, पाण्डित्ये च हीनतायाः कलङ्कातङ्कः । अस्यामवस्थायां सत्यां मेऽयमुपहासजनकः पराभव एव भवेत् । ततस्तावदिदमेव मे श्रेयस्करं यदस्य गुरोः सविधं गत्वा तेन सहैव वादविवादं विधाय स्वमर्यादायाः संरक्षणं कुर्याम् । विमृश्य चेत्थमिन्द्रभूतिगौतम तम् विप्रं स्थविरमेवमुवाचागच्छमयामा स्वगुरोरभ्यर्णम्, तेनैव सत्राहं वार्तां विधास्यामि ।

कपटपटुः स विप्रवेषधारीन्द्रस्तु तावदिदमेवाभिलषति स्म । अतः स स्वमनोरथसिद्धिसाधिकायाः सफलताया उपरि चेतसि बहु मुमुदे । झटिति स गौतमं स्वेनैव सार्कं समवशरणमनयत् । समवशरणनिकटं गतेन तेन यदैव

छह लेश्याएँ सुनी हैं, न पांच अस्तिकाय सुने हैं, और न ये सब कभी मेरे जानने में ही आये हैं । यद्यपि मैं वेदवेदाङ्गों का विशिष्ट ज्ञाता हूं तब भी आर्हत् दर्शन का पाठी न होने के कारण मैं उसे जानता नहीं हूं अतः मैं उन श्लोकोक्त पदों का वास्तविक रहस्य इसे कैसे समझाऊं और कैसे इससे यह कहूं कि मैं इन पदों का अर्थ जानता नहीं हूं क्योंकि ऐसा कहने से मुझ में अनभिज्ञता आती है तथा मेरे पाण्डित्य में हीनता का कलङ्क लगता है । ऐसी स्थिति में मेरा यह एक प्रकार का उपहासजनक पराभव ही होगा । मेरी भलाई इसी में है कि इसके गुरु के निकट जाकर मैं उससे वादविवाद कर अपनी मर्यादा का संरक्षण करूं । इस प्रकार विचार कर इन्द्रभूति गौतम ने उस विप्रवेशधारी वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि तुम मेरे साथ अपने गुरु के पास चलो, मैं उन्हीं से इस सम्बन्ध में बात करूंगा ।

वह विप्रवेशधारी कपटपटु इन्द्र तो यह चाहता ही था अतः वह अपने मनोरथ की सिद्धि की साधकभूत सफलता पर बहुत खुश हुआ । वह अतिशीघ्र गौतम को अपने साथ समवशरण में ले गया । जब गौतम समवशरण के निकट पहुँचा और जैसे ही मानभंजक मानस्तम्भ के उसे

मानस्तम्भो मानस्तम्भदर्शने तदैव अन्तःस्तलात्स्वत एव सूर्यात्तमस्तोम इव विगलितोऽभवज्ज्ञानमदः । जातोऽतोऽयमखर्वगर्वग्रहगृहीतोऽपि विनेयवद्विनयविशिष्टोऽधुना शिष्टः ।

तत्र गतेन तेन यदैव श्रमणमहावीरस्याकारि दर्शनं तदैव तम् प्रति श्रद्धा प्रबुद्धा । गौतमोऽयं ब्राह्मणः समागतस्तु महावीरेण साकं शास्त्रार्थं कर्तुं परं च तस्य नैकट्यं समुपलभ्य स तस्य सर्वोत्तमः श्रद्धागुणगरिष्ठोऽन्तेवासी समजनिष्ट । तीर्थंकरस्य महावीरस्य वीतरागदशया तथा स इथान् प्रभावितोऽभूत्, यत्स्वीयं समस्तं समृद्धं च परिग्रहं परिहृत्य महाव्रतैश्च समाश्लिष्टं स्वात्मानं विशिष्टं विधाय दिगम्बर मुद्रोपेतो मुनिर्जातः । तस्मिन्नेव काले तेन चतुर्थं मनःपर्ययाख्यं ज्ञानमेवाप्तम् ।

दर्शन हुए तैसे ही उसके अन्तस्तल से अपने आप ही सूर्य के उदय से जैसे तमस्तोम—गाढान्धकार विलीन—नष्ट—हो जाता है, ज्ञान का मद विगलित हो गया । वह पूर्व में अधिक ज्ञानमद से भरा हुआ था—परन्तु अब तो वह विनीत शिष्य की तरह शिष्ट—अच्छी समझवाला—बन गया ।

वहां पहुंचते ही ज्यों ही उसने महावीर प्रभु के दर्शन किये त्यों ही उसकी आस्था—श्रद्धा उनके प्रति जग गयी । जो गौतम ब्राह्मण ज्ञानमद के आवेश से उन्मत्त बनकर महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने आया था—वही गौतम उनके पास आते ही उनका सर्वोत्तम श्रद्धाशाली शिष्य बन गया (यह वीतरागता की ही महिमा है) प्रभु महावीर की वीतराग-परिणति से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह समस्त परिग्रह का त्यागकर अपने-आपको महाव्रतों से सुवासित कर दिगम्बर मुद्राधारी मुनि हो गया । दिगम्बर—मुद्रा धारण करते ही उसे चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ।

इन्द्रभूतौ मनःपर्ययज्ञानसम्पन्ने सत्येव तीर्थंकरमहावीरस्य मौनं विघटितम्। तत्क्षण एव तस्माद्धनाघनगर्जनावद् दिव्यध्वनिर्निर्गतः। धर्मोपदेशः प्रारम्भो जातः। यस्मिन् दिवसे तस्य मौनभङ्गो बभूव स वासरः श्रावणकृष्णायाः प्रतिपत्तिथिस्वरूप आसीत्। अस्मिन् दिवसे हि तीर्थंकरमहावीरस्याद्यो धर्मोपदेशो जातः। जनैश्च स महामोदात् सुश्रुतः। यतः कैवल्ये समुत्पन्नेऽपि षट्षष्टिदिवसान् यावत् तस्य प्रभोर्मौनावलम्बनत्वाद्धर्मोपदेशो नाभवत्। तेषां तावद्गणनेत्थम्—वैसाखमासशुक्लपक्षस्य षट् दिवसाः (६)। ज्येष्ठमासस्य त्रिंशद्दिनानि (३०)। आषाढमासस्य त्रिंशद्वासराः (३०)। अस्य दिवसस्य प्रसिद्धिर्वीरशासनोदयाख्यया जाता। दिवसमेनं जनता वर्षारम्भदिवसं मत्वैव कतिपयशताब्दीपर्यन्तं स्वशुभकार्यारम्भमकरोत्।

इन्द्रभूति को मनःपर्ययज्ञान होते ही तीर्थंकर महावीर का मौन भंग हुआ और उसी क्षण मेघ की गर्जना के समान उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। उपदेश प्रारम्भ हुआ। जिस दिन प्रभु का मौन भंग हुआ था वह दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का था। इस दिन ही तीर्थंकर महावीर का पहिला धर्मोपदेश हुआ और उसे जनता ने सुना। कैवल्य प्राप्ति हो जाने पर भी प्रभु की ६६ दिन तक वाणी नहीं खिरी। वैसाख के अन्त के ६ दिन, पूरा ज्येष्ठ और पूरा आषाढ—इस प्रकार से इन ६६ दिनों में प्रभु की दिव्यध्वनि मुखरित नहीं हुई। प्रभु का मौन रहा। जिस दिन प्रभु का सबसे पहिला धर्मोपदेश हुआ वह दिव्य दिवस वीरशासनोदय नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ माना जाता है। जनता जब भी किसी शुभ कार्य का प्रारम्भ करती तो इस दिन को ही वर्ष का आरम्भ दिवस मानकर करती। ऐसी मान्यता कितनी ही शताब्दियों तक चलती रही।

तीर्थंकरस्योपदेशः "सर्वार्द्धमागधीया भाषा मैत्री च सर्वजनता विषया" इत्थंभूतमान्यतानुसारतः साधारणजनताया भाषायामेव भवति स्म । अतः प्रत्येक श्रोता तदुपदेशमनायासेनैवात्मसात् करोति स्म । स्वस्वभाषायां तं प्रबुद्धय तस्मिन्नुपदेशे सर्वासां तात्त्विकवार्तानां (सिद्धान्तानां) विवेचनमासीत् । आसीच्च सम्पूर्णजगतो विवरणम् । ऐतिह्यस्यापि कथनम् । तथात्महितसाधकसाधनस्य, जीवाहितविधायक-कारणस्य, कर्मबन्धनिदानस्य, कर्मविमोचकहेतोः, सम्यग्दर्शनाद्यात्मक-धर्मस्य, तद्विपरीताधर्मस्य, उपासकानुष्ठानस्य, मुनिवृषस्य, जीवपरिण-मनस्य, चाजीवपरिणतेश्च वैशद्योपेता व्याख्याऽप्यासीत् । धर्मार्थं हिंसाकरणं महद्वृजिनं—तस्मिन् धर्ममतिर्महती तद्विस्मृतिविषयोऽयं तीर्थंकरेण जनताया मंगलार्थं प्रभावत्या पद्धत्यावबोधितः ।

तीर्थंकर महावीर का धर्मोपदेश अर्धमागधी भाषा में होता था क्योंकि उस समय यही बोलचाल की भाषा थी । इस भाषा में हुए उपदेश को साधारण जनता भी समझ जाती थी क्योंकि साधारण जनता की बोलचाल की यही भाषा थी । समवशरण में उपस्थित सब जीव प्रभु के उपदेश को अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते थे । उन्हें उस उपदेश को समझने में कोई कष्ट या अड़चन नहीं होती थी । प्रभु के उस दिव्य धर्मोपदेश में समस्त सिद्धान्तों का विवेचन रहा करता था । सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या रहा करती थी । इतिहास सम्बन्धी कथन होता, आत्महित साधनों की व्याख्या होती, जीवहितविधायक कारणों का विवेचन होता, कर्मबन्ध के कारणों का निर्देशन होता, कर्मों से छूटने के उपायों का सुन्दर से सुन्दर वर्णन होता । रत्नत्रयात्मक धर्म का और इनसे विपरीत अधर्म का पूर्ण निर्देश होता, श्रावक एवं मुनिधर्म के अनुष्ठानों की, जीवों के परिणमन की एवं अजीवतत्त्व की परिणति की विशद व्याख्या होती तथा उस उपदेश में जीवों के लिए यह भी उद्बोध रहता कि धर्म समझकर जीवों की हिंसा करना या धर्म के लिए प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना यह बहुत बड़ा पाप या अपराध है । जो इसे धर्म मानते हैं, वे धर्म के स्वरूप को जानते ही नहीं हैं ।

ग्रावा यथेच्छमपि संतरतु प्रमुक्तः, पानीयवीचिरचनासु हिमांशुरग्निम् ।
सूर्यश्च यच्छतु हिमं न तथापि हिंसा कर्त्रे ददाति खलु किञ्चिदपीह धर्मम्
॥ ४४ ॥

प्राणाः प्रियाः स्वस्य यथा भवन्ति,
भवन्ति तेऽन्यस्य तथैव जन्तोः ।
इत्थं परिज्ञाय न हिंसनीया,
प्राणाः परेषां हितकांक्षिणा ना ॥ ४५ ॥

यस्मभ्यं रोचते यन्नान्येभ्यो रोचिष्यते कथम् ।
विज्ञायेत्थं न कर्तव्यं विरुद्धाचरणं क्वचित् ॥ ४६ ॥

दया धर्मो ह्यधर्मस्तु हिंसा यत्रास्ति सा ध्रुवम् ।
तत्र धर्मस्य लेशोऽपि नास्तीति संप्रधार्यताम् ॥ ४७ ॥

पत्थर भले ही पानी की लहरों में छोड़ने पर तैरने लगे, चन्द्रमण्डल से भले ही अग्नि निकलने लगे, सूर्य भले ही शीतलता की वर्षा करने लगे, तब भी हिंसा हिंसा करनेवालों को कभी भी धर्म देनेवाली नहीं होती है ॥ ४४ ॥

जैसे जीवों को अपने प्राण प्यारे होते हैं, वैसे ही वे अन्य जीवों को भी प्यारे होते हैं, ऐसा मानकर आत्म-हितैषी मनुष्य को दूसरे जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए ॥ ४५ ॥

प्रत्येक जीव को यह समझना चाहिए कि जो व्यवहार मुझे नहीं रुचता है, वह दूसरे जीवों को भी नहीं रुचेगा, ऐसा जानकर किसी भी जीव के प्रति प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए ।

धर्म का मूल तो दया है और अधर्म का मूल हिंसा । जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं है । वहां धर्म का अंश तक भी नहीं है ॥ ४७ ॥

संकल्पबुद्धया न कदापि हिंसा श्राद्धैर्विधेया त्रसकायिकानाम् ।
संरक्षणीया यतना थरत्राहिंसाव्रतं श्राद्धजनस्य चैतत् ॥ ४८ ॥

यज्ञे हुतो गच्छति देवलोकं जीवस्तथा कारयिताऽथ कर्ता ।
जुहोति किं न स्वं तथा च बन्धूनतो वधो नास्ति कदापि धर्म्यः ॥ ४९ ॥

वीरवाणीप्रभावः

यदा नामाङ्कितो विद्वद्वरेण्यो विप्र इन्द्रभूतिर्महावीरस्यापश्चिमोऽग्रगण्यः शिष्योऽजनि तदा जनतायां विद्वद्वृन्दे चास्याः घटनायाः क्रान्तिकारः प्रभावः प्रसतो जातः परितः । इन्द्रभूतिर्गौतम सम्रावेव

श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह संकल्पपूर्वक किसी भी त्रस जीव की हिंसा नहीं करे और जो स्थावर जीव हैं उनके प्रति यत्नाचारपूर्वक बर्ते, यही उनका अहिंसा व्रत है ॥ ४८ ॥

यज्ञ के निमित्त मारा गया—होमा गया—जीव यदि देवलोक—स्वर्ग में जाता है, तो जो यज्ञ करता है और जो उसे कराता है वह क्यों नहीं अपने आपको और अपने बन्धुजनों को यज्ञ में होम देता है । इसलिए हिंसा—यज्ञ के निमित्त किया गया प्राणिवध भी धर्मरूप नहीं है ॥ ४९ ॥

वीरवाणी का प्रभाव

जब नामाङ्कित विद्वद्वरेण्य विप्र इन्द्रभूति गौतम महावीर के अग्रगण्य सर्वप्रथम शिष्य बन चुके तब जनता में एवं विद्वद्वृन्द में इस घटना का क्रान्तिकारक प्रभाव पड़ा । इन्द्रभूति गौतम के जैसे ही उसके अन्य

तस्यान्यावपि द्वौ सहोदरौ विद्वन्मण्डल्यलङ्कारकल्पाग्निवायुभूताख्य स्वान्तेवासितति–सहितौ महावीरस्य धर्मोपदेशं निशम्यानुपमं निखिलं संगं निरस्य स्वविनीतविनेययुतौ दैगम्बरीं दीक्षामादाय तदीय गणधरावजनिषाताम् ।

मिथ्यात्वमलिनं ज्ञानं सम्यक्त्वेन सुवासितम् ।
यदा संजायते, भासि निर्मलादर्शवत्तदा ।। ५० ।।

मलं मिथ्यात्वमस्मात्तज्जायते मलिनं ध्रुवम् ।
सम्यक्त्वमेव तस्यास्ति व्यपनोदाय शक्तिमत् ।। ५१ ।।

श्रीचन्दनद्रोः समीपस्था निम्बादयो यदि चन्दनतां लभन्ते किमत्र तर्हि चित्रमिति ।

और भी दो सहोदर भाई थे जो विद्वानों की मण्डली के अलंकार जैसे थे। इनका नाम अग्निभूत और वायुभूत था। ये दोनों भी अपनी-अपनी शिष्यमण्डली सहित महावीर का धर्मोपदेश सुनकर समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर भगवान् महावीर के गणधर बन गये।

मिथ्यात्व से मलिन हुआ ज्ञान जब सम्यक्त्व से सुवासित हो जाता है तब वह निर्मल दर्पण की तरह चमकने लगता है ।। ५० ।।

मिथ्यात्व एक प्रकार का मैल है। इस मैल से ज्ञान मलिन हो जाता है। इस मैल को धोनेवाला सिर्फ एक सम्यग्दर्शन ही है ।। ५१ ।।

चन्दन के पास के वृक्ष नीम आदि यदि चन्दनस्वरूप बन जाते हैं तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। इसी तरह विप्र इन्द्रभूति गौतम यदि वीर का सान्निध्य पाकर दिगम्बर मुनि बन गया तो आश्चर्यकारक बात नहीं है।

यदाऽश्रावि मर्मस्पर्शी जनतया महावीरस्य दिव्यध्वनेर्धर्मोपदेशस्तदा सौन्दर्योपेतं तस्य सत्यस्वरूपं तयाऽज्ञायि। अस्यैव फलितार्थोऽयं जातो यत् पशु पशुवधस्य विरोधको व्यापकः प्रचारः समभूत्। यज्ञकारयितॄणां पुरोहितानां यज्ञविधायिनां हृदये उल्लेखनीयं परिवर्तनं जातम्। अतस्ते पशुयज्ञं प्रति हिंसाधायककृत्यत्वेन जुगुप्सामकुर्वन्।

राजगृहीश्वरो मगधदेशाधिपतिः श्रेणिकोऽपरनामधेयो बिम्बसारो महावीरस्योपदेशं निशम्य तं चाकण्ठं परिपीय मुहुर्मुहुर्विचिन्त्य तदनुयायी परमभक्तस्तस्य संवृतः। इत्थं श्रीवीरप्रभो वाणी प्रारंभत एव परमप्रभावशालिनी सिद्धाऽभवत्।

कियद्दिवसानन्तरं तीर्थंकरो महावीरस्ततोऽपि विहृत्येतस्ततो विहारमकरोत्। यत्रापि सोऽतिष्ठत्तत्रामयसवीनं श्रीसभामण्डपं समव-

---

जब जनता ने भगवान् महावीर का मर्मस्पर्शी धर्मोपदेश सुना एवं उसका सौन्दर्योपेत सत्य स्वरूप जाना तो इसका यह फल हुआ कि पशु-यज्ञ का विरोधकारक व्यापक बहुमत गठित हो गया एवं यज्ञ करने और करानेवालों के हृदय में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। अतः पशुयज्ञ के प्रति उसके हिंसा का कार्य होने के कारण ग्लानि आने लगी।

मगधदेशाधिपति श्री श्रेणिक जो कि राजगृही नगरी के शासक थे और जिनका दूसरा नाम बिम्बसार था, ने महावीर के धर्मोपदेश को सुना। सुनकर उसका बारम्बार विचार—चिन्तवन—मनन किया। उससे उसे अपार शांति मिली। वह भगवान् महावीर का अनुयायी बन गया और उनका परम भक्त श्रावक हो गया। इससे वीर प्रभु की वाणी प्रारम्भ से ही परम प्रभावशालिनी साबित हुई। कितने ही दिनों तक यहां विराजमान रहकर तीर्थंकर भगवान् महावीर ने वहां से भी विहार करके इतस्ततः धर्म का प्रचार किया। जहां पर भी वे ठहरते वहां नवीन समवशरण की रचना

शरणमपरनामधेयं तत्राप्यभवद्धर्मामृतवर्षणम्, दिवसाननेकान् यावत्। समीहाविहीनोऽप्यसौ भव्यजीवान् प्रति सहजकृपया प्रेरितोऽथवा तेषां प्रबलसुकृतोद्रेकयोगतः काशी–काश्मीर–कुरु–मगध–कोसल–कामरूप–कच्छ–कलिङ्ग–कुरुजांगल–किष्किंधा–मल्लदेश–पांचाल–केरल–भद्र–चेदि–दशार्ण–बंगांगान्ध्र, उशीनर–मलय–विदर्भ–गौण्डादिदेशेषु विहरन् महतीं धर्मप्रभावनामकार्षीत्। एतावताऽनेकेषु प्रान्तेषु देशेषु वाऽस्य मांगलिकविहारो जातस्तेन महान् धर्मप्रचारोऽभूत। जगदानन्दकरस्य प्रभोर्भाषा दिव्यध्वनिस्वरूपाऽऽसीत्। समवशरणस्थाः सर्वेऽपि श्रोतारस्तां स्वस्य भाषायां बोधन्ति स्म। यत्र-यत्रासौ तीर्थंकरो विजहार तत्र तत्र धर्मामृतपिपासूनां कृतेऽयं धर्मोपदेशं चकार।[1]

होती। अनेक दिवस पर्यन्त वहां वे धर्मामृत की वर्षा करते। इच्छा-विहीन होने पर भी भगवान् महावीर ने सहज कृपा भाव से प्रेरित होकर या भव्यजीवों के प्रबल पुण्योदय के योग से उन्हें काशी, काश्मीर, कुरु–मगध–कौशल–कामरूप–कच्छ–कलिङ्ग–कुरुजांगल–किष्किन्धा–मल्लदेश–पांचाल–केरल–भद्र–चेदि (चंदेरी) दशार्ण–बंग-अंग–आन्ध्र–उशीनर–

---

(1)—इच्छाविरहितः सोऽपि भव्यपुण्योदयेरितः विहारमकरोद्देशानार्यान् धर्मोपदेशयन्। काश्यां काश्मीरदेशे कुरुषु च मगधे कौशले कामरूपे, कच्छे काले कलिङ्गे जनपदमहिते जांगलान्ते कुराढौ। किष्किन्धे मल्लदेशे सुकृतिजनमनस्तोषदे धर्मवृष्टिं कुर्वन् शास्ता जिनेन्द्रो विहरति नियतं तं यजेऽहं त्रिकालं।

पांचाले केरले वाऽमृतमदमिहरो भद्र चेदि दशार्णे,
बंगांगान्ध्रौलिकोशीनरमलयविदर्भेषु गौडेसुसह्ये।
शीतांशूरश्मिजालादमृतमिव समां धर्मपीयूषधाराम्,
सिंचन् योगाभिरामः परिणमति च स्वान्तशुद्धिं जनानाम्॥

प्रतिष्ठा पा. ९/६ पृ.

"गौतमोऽपि ततो राजन्! गतः काश्मीरके पुनः।
महावीरेण दीक्षां च धत्ते जैनमतेरिताम्॥"

वैदिक ग्रन्थ श्रीपाल पु० ३/७६

(गौतम नामक एक ब्राह्मण ने तीर्थंकर महावीर से जैनधर्म की दीक्षा लेकर इच्छित अर्थ को सिद्ध किया।)

इच्छामन्तरेण वचनप्रवृत्तेरभावात् कथं तीर्थंकरेण महावीरेण धर्मप्रचारः कृत इति न वक्तव्यम् तां विनाऽपि तत्प्रवृत्तेर्दर्शनात् । नियमाभ्युपगमे तु सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वा निरभिप्रायप्रवृत्त्या न भाव्यम् । भवति चेदत्रापि सा भवतु, का नो हानिः । किं च प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकाया इच्छायाः संभव एव नास्ति । यथा शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजो ध्वनति, तथैव भव्यानां सौभाग्योदयाद्वचोयोगसद्भावाच्च तीर्थंकरस्य दिव्यध्वनिरुद्भवति ।

मलय–विदर्भ और गौण्ड आदि देशों में विहार करके धर्मोपदेश दिया और इससे वहां पर महती धर्मप्रभावना हुई ।

इस प्रकार अनेक प्रान्तों में और अनेक देशों में इनका मांगलिक विहार हुआ । इस कारण धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ । जगत् में आनन्द की वर्षा करनेवाले प्रभु की भाषा दिव्यध्वनिरूप थी । अतः समवशरणस्थ समस्त प्राणी उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते थे । जहां-जहां इन तीर्थंकर का विहार होता वहां-वहां के धर्मपिपासु जनों के लिए इनका धर्मोपदेश होता ।

यदि कोई यहां पर ऐसी आशंका करे कि प्रभु तो इच्छा–विहीन थे अतः इस स्थिति में वचनप्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं है, तो फिर तीर्थंकर महावीर ने धर्म का प्रचार कैसे किया ? तो इस प्रकार की यह आशंका उचित नहीं है क्योंकि इच्छा के बिना भी वचनप्रवृत्ति देखने में आती है । यदि ऐसा नियम माना जावे तो सुषुप्ति अवस्था में या गोत्र-स्खलन आदि में जो निरभिप्राय वचनप्रवृत्ति देखी जाती है वह कैसे सम्भवित हो सकेगी । अतः ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता है । इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि इच्छा के अभाव में भी वचनप्रवृत्ति होती है । इसमें कोई हानि जैसी बात नहीं है । दूसरी बात यह है कि मोह के सद्भाव में ही इच्छा होती है । प्रभु के तो मोह का सर्वथा विनाश हो ही जाता है, अतः वहां इच्छा का होना सम्भव ही नहीं है । जिस प्रकार बजानेवाले के करस्पर्श से मृदंग बजता है—आवाज करता है, उसी प्रकार भव्यजीवों के सौभाग्य के उदय से एवं वचनयोग के सद्भाव से तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है ।

श्री महावीरस्य धर्मप्रचारात्तत्प्रभावाच्चाहिंसायाः प्रभावशाली प्रसारः समजनि । सर्वत्र पशुयज्ञा निरुद्धाः । हिंसाकृत्यात्मांसाशनाच्च जनताया हृदये जुगुप्सा प्रादुर्भूता । तद्विशुद्धं धर्मोपदेशं श्रुत्वा नृशंसा अपि दयार्द्रा अभूवन् । विश्ववंद्यपदारविन्दस्यास्य यत्रापि मंगल-विहारोऽभवत्तत्रत्याः शासकाः मंत्रिणः सेनापतयः पुरोहिता विद्वांसस्तथाऽन्येऽपि साधारणजनास्तदनुयायिनो भूत्वा तद्भक्ताः बभूवुः । यथा रव्युदयाद्न्धकारो विनष्टो जायते तथैव तीर्थंकरस्योपदेशादज्ञानं भ्रमोऽधर्मोऽन्यायोऽत्याचारो हिंसादिदुष्कृत्यं चेत्यादीत्यादिरूपः पापाचारः शनैः शनैः साधारणजनक्षेत्राद् विनिर्गतोऽभवत् । निरागसे निरपराधाय मूकपशुजगते संरक्षणमित्थं मिलितम् ।

श्री महावीर के धर्मप्रचार से और उनके प्रभाव से अहिंसा का प्रभावशाली प्रसार हुआ । सर्वत्र पशुयज्ञ होने से रुक गये । हिंसा जैसे अकृत्य से एवं मांसभक्षण से जनता के हृदय में ग्लानि आ गयी । महावीर के विशुद्ध धर्मोपदेश को सुनकर निर्दयजनों के हृदयों में भी परिवर्तन आ गया । उनमें भी दया का संचार होने लगा । विश्ववंद्यपदकमलवाले वे महावीर जहां-जहां मंगलमय विहार करते थे, वहां वहां के शासक, मंत्री, सेनापति, पुरोहित, विद्वान् तथा अन्य और भी साधारण जन उनके अनुयायी होकर उनके भक्त हो जाते थे । जिस प्रकार सूर्य के उदय से अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी तरह तीर्थंकर महावीर के धर्मोपदेश से अज्ञान, भ्रम, अधर्म, अन्याय, अत्याचार और हिंसादि दुष्कृत्यरूप पापाचार धीरे-धीरे साधारण जनक्षेत्र से हटने लग गया । इस प्रकार निष्पापी और निरपराधी मूक पशुजगत् को संरक्षण मिला ।

तीर्थंकरस्य महावीरस्य संघे गणधरा एकादश। केवलिनां संख्या सप्तशतप्रमाणा । मनःपर्ययज्ञानिनः पंचशतानि । त्रिशताधिकसहस्र-संख्याकाः अवधिज्ञानिनः। नवशतसंख्याका विक्रयर्द्धिधारिणः। चतुःशत संख्याका अनुत्तरवादिनः । षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्यामिता आर्याः। शतसहस्र-संख्याकाः श्राद्धाः। त्रिलक्षसंख्योपेताश्च श्राविका आसन्।

तीर्थंकृता महावीरेणर्षि-मुनि-यत्यनगाररूपैश्चतुर्विधैः साधुसंघैः, श्रमण–श्रमणी–श्रावक–श्राविकाराजिभिश्च परितः परिवृतेन नानादेशेषु देशान्तरेषु विंशतिदिवसाधिक पंचमासोपेतान्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि यावद्धर्म-प्रचारः कृतः। तथा चोक्तम्—

वासाणूणतीसं पंचय मासेय वीसदिवसे य ।
चउविह अणगारेहिं बारस दिणेहिं विहरित्ता ।।
—जयधवला खं. पृ. ८१ ।

अस्मिन् धर्मप्रचारे भगवता वीरेणाहिंसाधर्मस्यानेकान्तसिद्धान्त-जातिवादस्यापरिग्रहस्यात्मास्तित्वस्य कर्मवादस्य च विशेषरूपेण विशिष्टा व्याख्या कृता।

श्री तीर्थंकर भगवान् महावीर के संघ में ११ गणधर, ७०० केवल-ज्ञानी, ५०० मनःपर्ययज्ञानी, १३०० अवधिज्ञानी, ९०० विक्रियाऋद्धि के धारी, ४०० अनुत्तरवादी, ३६००० आर्यिकाएँ, १००००० श्रावक, और ३००००० श्राविकाएँ थीं।

श्री तीर्थंकर ने ऋषि, मुनि, यति और अनगार इस चतुर्विध साधु संघ से और श्रमण, श्रमणी, श्रावक तथा श्राविकाओं से परिवृत होकर अनेक देशों एवं देशान्तरों में २१ वर्ष ५ माह १० दिन तक विहार कर धर्म का प्रचार किया।

इस धर्म प्रचार में भगवान् महावीर ने अहिंसा धर्म की, अनेकान्त की, जातिवाद की, अपरिग्रह की, आत्मा के अस्तित्व की और कर्मवाद की विशिष्ट व्याख्या की।

परिनिर्वाणप्राप्तिः

अन्ते सोऽयं प्रभुर्विहारं निरुद्ध्य पावानगरेऽनेकेषां सरोवराणां मध्ये महोन्नतभूमिप्रदेशे महामणिमयशिलातले संस्थितः । तत्र तेन षड्-दिवसान् यावत् योगनिरोधं विधायान्तिमं गुणस्थानं समुपलब्धम् । तत्राव-शिष्टान्यघातिकर्माणि चोन्मूल्य कार्तिककृष्णामावास्यादिवसे ब्राह्मे मुहूर्ते (सूर्योदयात्किञ्चित्प्राक्समये) संसारपरिभ्रमणान्मुक्तिर्लब्धा ।

परिनिर्वाणमहोत्सवः

यदा श्री तीर्थंकरो महावीरः पावापुरीतो निर्वाणमाप तदा स तस्या निशीथिन्या अन्तिमोऽन्धकार आसीत् । यथैवेन्द्रो विविधैश्चिह्नै-स्तीर्थंकरमहावीरस्य निर्वाणलाभसूचनामलभत तथैवासौ देवपरिवारैः

परिनिर्वाणप्राप्ति

अन्त में वे विहार को संवरण कर पावानगर में अनेक सरोवरों के मध्य महोन्नत–भूमि-प्रदेश में संस्थित महामणिनिर्मित सिंहासन पर विराजमान हुए । वहां ६ दिन तक उन्होंने योगों का निरोध किया और वे अन्तिम गुणस्थान पर आरूढ़ हो गये । वहां अवशिष्ट अघातिया कर्मों को नष्ट कर कार्तिक कृष्णा अमावस्या को ब्राह्ममुहूर्त में संसार-परिभ्रमण से मुक्त हो गये ।

परिनिर्वाणमहोत्सव

जब तीर्थंकर महावीर ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया था । उस रात्रि का वह अन्धकार उनके जीवन का अन्तिम अन्धकार था । जैसे ही विविध निर्वाणसूचक चिह्नों से इन्द्र ने भगवान् महावीर के निर्वाणप्राप्ति की सूचना पायी वैसे ही वह देवपरिवार के साथ पावापुरी आया । वहां

सह पावानगरमियाय । तत्रासंख्यातान् प्रदीपान् प्रज्वाल्य स महान्तं रवितेजोऽधिकं प्रकाशं चकार । आगन्तुकैः सुरवृन्दैरपि तीर्थंकरस्य प्रमोदमत्तैः संभूयोच्चैर्मधुरैः स्वरैर्जयघोषोऽकारि पुनः पुनः । अतः पावानगरस्था जना निकटस्थाः स्त्रीपुरुषाश्चापि तीर्थंकरनिर्वाणगमनसूचनामलभन्त । अतः सर्वेऽपि ते प्रदीपान् प्रज्वाल्य तस्मिन्नधिष्ठाने समागताः । इत्थं तत्रासंख्याताः प्रदीपाः स्वस्वप्रभया प्रकाशाधिक्यं प्रतेनिरे । भक्तिभरावनद्धान्तःकरणैर्गोधैस्तथा निलिम्पैश्च तीर्थंकरपरिनिर्वाणस्य महोत्साहेन प्रबलप्रमोदेन च महानुत्सवो व्यधायि । हस्तिपालनृपेण, मल्लिगणनायकैस्तथाऽष्टादशगणनायकैश्चापि मध्यमापावायां परिनिर्वाणसमारोहोऽप्यधिकोत्साहेन भक्तिपूर्वकमकारि ।[1] वीरे मुक्तिगते सति देवास्तदीयं पार्थिवं विग्रहं कर्पूरचंदनैर्विरचितायां चितायां संस्थापयामासुः । नमस्कारं कुर्वतां वह्निकुमारदेवानां मौलिभिस्तत्क्षणनिर्गतज्वलन-

---

आकर उसने असंख्यात दीपों को जलाकर नगर को प्रकाशमय कर दिया । साथ में आये हुए देवों ने भी प्रमोदमत्त होकर उच्च स्वरों से बारम्बार जयघोष किया । अतः पावानगर के समस्त नर-नारी-जन और आस-पास के नर-नारी-गण तीर्थंकर के निर्वाणगमन की सूचना पाकर वहां आकर उपस्थित हो गये । उन्होंने भी वहां दीपक जलाये, इस तरह वहां असंख्यात दीपों की राशि का प्रकाश चारों ओर फैल गया । भक्तिभाव से जिनका अन्तःकरण ओत-प्रोत हो रहा है ऐसे मनुष्यों ने तथा देवों ने तीर्थंकर के परिनिर्वाण का बड़े उत्साह एवं प्रमोद के साथ बहुत बड़ा उत्सव किया । हस्तिपाल नरेश ने, १८ मल्लिगणनायकों ने एवं १८ गणनायकों ने मध्यमापावा में परिनिर्वाण समारोह बड़े ठाट-बाट के साथ भक्तिपूर्वक किया । वीर प्रभु के मोक्ष चले जाने पर देवों ने उनके पार्थिव शरीर को कपूर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों से रची गई चिता में स्थापित किया । इसके बाद नमस्कार करते हुए अग्निकुमार जाति के देवों के मणिनिर्मित मुकुटों से

---

१. पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलकुलवतां सरसां हि मध्ये ।
श्री वर्धमान जिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा ॥
निर्वाण भ० २४

ज्वालामाला सुगन्धितद्रव्यैः सत्रा तीर्थंकरस्य तत्परमौदारिकमपघनं भस्मसाच्चिनाय । सर्वैस्तत्रोपस्थितैः सर्वैस्तद्भस्म संगृह्य परमश्रद्धया स्वोत्तमाङ्गे संमिलितम् । तन्निर्वाणदिवस एव श्री गौतमेन लोकालोकावभासकं कैवल्यमलाभि । तदारभ्यैवाखिले भारते तीर्थंकरस्य महावीरस्य संस्मृतौ प्रतिवर्षं कार्तिककृष्णामावास्यां तिथौ तत्स्मारकरूपो दीपावलीति नाम्ना महापर्वराजः परितः प्रचलितो जातः । दिवसोऽयं जनैरतिशुभः परिगण्यते च मन्यते । अस्मिन् दिवसे तस्यार्चा परिनिर्वाणसपर्या केवलज्ञानस्वरूपाया लक्ष्म्याश्चापि पूजा तथा क्षणदो समये प्रदीपांश्च प्रज्वाल्य हर्षोत्कर्षसूचको विशेषप्रकाशश्च क्रियते ।

वीरे सर्वसुखाकरे भगवति प्रध्वस्तकर्मोदये,
मुक्तिश्रीनिलयाधिपे सति सुरैरिन्द्रैस्तथा मानवैः ।
भूपैश्चापि जयप्रघोषकलितैरागत्य पावापुरीं,
तत्रासंख्यसुदीप्रदीपकगणः प्रज्वालितो भक्तितः ।। ५२ ।।

निकलती हुई अग्नि ने सुगन्धित द्रव्यों के साथ-साथ तीर्थंकर प्रभु के उस परमौदारिक शरीर को भस्मसात् कर दिया । वहां पर जितने भी प्राणी उपस्थित थे उन सबने उस भस्म को परमभक्तिपूर्वक अपने-अपने मस्तक पर लगाया । जिस दिन प्रभु को निर्वाण की प्राप्ति हुई उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ । इसी दिन से समस्त भारत में तीर्थंकर महावीर की स्मृति में प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन उनकी याद दिलानेवाली 'दीपावली' इस नाम से प्रसिद्ध महापर्वराज प्रचलित हुआ है । मनुष्य इस पर्व को बहुत पवित्र मानते है । इस दिन इसकी पूजा, परिनिर्वाण पूजा, एवं केवलज्ञानरूप लक्ष्मी की पूजा करते हैं और रात्रि में प्रदीप-पंक्ति प्रज्वलित कर हर्षोत्कर्षसूचक प्रकाश करते हैं ।

वीर प्रभु सर्वजीवों के हितैषी हैं । भगवान् स्वरूप है । उन्होंने कर्मोदय को ध्वस्त कर दिया है । इस कारण वे मुक्ति—श्री के सौध के अधिपति बन चुके हैं । इस खुशी में इन्द्रों ने, देवों ने, मानवों ने और राजाओं ने जय-जयकार करते हुए पावापुरी में प्रवेश किया और भक्तिभाव से वहां असंख्यात प्रदीपों को जलाकर विशिष्ट प्रकाश किया ।। ५२ ।।

इत्थं संभूय शक्राद्यैर्वीरनिर्वाणमुत्सवः ।
विहितः पर्वराजोऽसौ दीपावल्यभिधोऽभवत् ।। ५३ ।।

तीर्थंकरो महावीरो यदा मुक्तिकान्तायाः कमनीयसद्मनि सहोषितुंगर्यास्तदा चतुर्थकालसमाप्तौ सार्धाष्टमासोपेतानि त्रिवर्षाण्यवशिष्टान्यासन् । चतुर्णिकायादेवास्तत्कालं समागत्य तत्प्रभोः सपर्यां चक्रुः प्रदीपांश्च प्रज्वालयामासुः । प्रज्वलितैश्च तैः प्रदीपैः सा पावानगरी प्रदीपिताकाशतलाऽभवत् । तत्समयादेव भक्तजना जिनेश्वरस्यार्चां कर्तुं भारतवर्षे प्रतिसंवत्सरं तत्परिनिर्वाणदिवसोपलक्षे दीपावल्यभिधानं पर्व महोत्साहेन भजन्ते । वीरप्रभुनिर्वाणस्य स्मारकरूपेण वीरनिर्वाणसंवत्सरोऽपि प्रचलितो जातो यः प्रचलितेषु संवत्सरेषु प्राचीनो वर्तते ।

इस प्रकार देवेन्द्र आदिकों ने एकत्रित होकर वीरनिर्वाण का महोत्सव मनाया । उन्हीं प्रभु की स्मृति में यह पर्वराज "दीपावली" इस रूप से प्रसिद्ध हुआ ।। ५३ ।।

तीर्थंकर महावीर जिस दिन मुक्तिरूपी कान्ता के सुन्दर मन्दिर में प्रविष्ट हुए, उस समय चतुर्थकाल की समाप्ति होने में ३ वर्ष ८ माह १५ दिन बाकी थे । चारों निकायों के देव तत्काल वहां आये । वहां आकर उन्होंने प्रभु की पूजा की । दीपों को जलाया । जलते हुए उन दीपों की भास्वर प्रभा से पावा नगरी का समस्त आकाश-मण्डल प्रदीप्त हो उठा । उसी समय से भक्तजन जिनेन्द्र की अर्चा-पूजा-करने के निमित्त प्रतिवर्ष भारत में उनके निर्वाण-प्राप्ति-दिवस के उपलक्ष में दीपावली नाम का पर्व बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं । वीर प्रभु के निर्वाण की यादगारी के रूप में वीर-निर्वाण-संवत्सर चालू हुआ जो प्रचलित संवत्सरों में प्राचीन है ।

अस्य प्रभोः संस्मृतौ बंगाल-विहारस्तकानामनेकेषां नगराणां नामानि तन्नामानुरूपाणि धृतानि समुपलभ्यन्ते । यथा तज्जन्मनाम्नि वर्धमाने वर्धमानेति, तद्वीरनाम्नि वीरभूमिरिति, तदङ्घ्रि चिह्नस्य ध्वज-चिह्नस्य च नाम्नि सिंहभूमिरिति नाम सांप्रतमपि प्रख्यातमस्तीति ।

शार्दूलचिह्नपरिमं-डत वर्धमान !,
तुभ्यं नमोऽस्तु जगदेकशरण्यभूत ! ।
अस्यां कृतौ तव पवित्रचरित्रमेतत्,
बृब्धं सुभक्तिवशतस् त्रुटिरत्रहेया ।। ५४ ।।

संसारगाढतमसीह चिरेण मग्नः,
कर्मारिणा हृतविबोधधनोऽस्मि रिक्तः ।
एकाश्यनाथ इव नाथ ! भ्रमामि, मार्गं,
मामादिश त्वमधुना शरणागतोऽस्मि ।। ५५ ।।

इस प्रभु की यादगाश्त के निमित्त बंगालविहारान्तर्गत अनेक नगरों के नाम प्रभु के नाम के अनुरूप रखे गये हैं । जैसे प्रभु के जन्म के नाम वर्धमान पर नगर का नाम "वर्धमान", प्रभु के वीर नाम पर नगर का नाम "वीर भूमि" तथा प्रभु के चरण के और ध्वज के चिह्न स्वरूप सिंह के नाम "सिंह भूमि" रखा गया । ये नाम अभी तक प्रचलित चले आ रहे हैं ।

हे शार्दूल के चिह्न से अङ्कित श्री वर्धमान प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार हो । क्योंकि आप जगत् के अद्वितीय रक्षक हैं । अतः अत्यन्त भक्तिपूर्वक हे नाथ ! मैंने आपका यह पवित्र चरित्र इस कृति में गूँथा है । यदि इसमें कोई त्रुटि हो तो उस पर ध्यान नहीं देना ।। ५४ ।।

हे नाथ ! मैं इस संसाररूपी गाढ़ अन्धकार में चिरकाल से मग्न हो रहा हूं --भटकता आ रहा हूं । यहां कर्मरूपी शत्रुओं ने मेरा सम्यग्ज्ञान-रूपी धन लूटकर मुझे बिल्कुल निर्धन बना दिया है । अतः हे प्रभो ! अनाथ की तरह मैं अकेला चारों गतियों में बिना सहारे के इधर-उधर चक्कर काट रहा हूं । यहां से पार होने का मार्ग मुझे मिल नहीं रहा है । इसलिए हे प्रभो ! मुझे आप मार्ग बतावें -- मैं तो आपके चरणों की शरण में पड़ा हुआ हूं ।। ५५ ।।

दृष्टा मया बहुविधा धनिका गुणान्धा:,
तत्रास्ति नैव करुणा गुणिनं प्रतीह ।
विद्वज्जनस्य च गुणस्य च रक्षक: स:,
भोजो नृपस्तु गतवान् धुसदां सभायाम् ॥ ५६ ॥

त्राता त्वमेवासि समस्तजन्तो:,
मत्वेत्यहं त्वच्छरणं गतोऽस्मि ।
छायामिव त्वां तरुमाश्रयता,
शान्तिं लभेतैव च याचनया किम् ॥ ५७ ॥

राजेश-संजया-ज्जू-सोमू-मोनू सुशैलु नप्तृणाम् ।
वृत्तं च पितामहेन पूर्णं जातं गुरो: कृपया ॥ ५८ ॥

यदि आप कहें कि यहां तुम्हें सहारा देने वाले अनेक धनिक हैं अत: उनका ही सहारा लो—तो इस सम्बन्ध में रचनाकार अपना अभिप्राय प्रकट करता हुआ कहता है—हे नाथ ! मैंने अभी तक अनेक प्रकार के धनिकों को देखा है—पर वे सब मुझे गुणों से ही अन्धे—रहित—देखने में आये हैं । जब वे स्वयं गुणी नहीं हैं तो गुणिजनों के प्रति इनमें करुणा का भाव भी नहीं है । अर्थात् बहुमान नहीं है । यह भाव तो राजा भोज में था—सो हे नाथ ! वह तो इस समय देवलोक में विराजमान है ॥ ५६ ॥

हे वीर प्रभो ! आप ही समस्त जन्तुओं के रक्षक हो, ऐसा समझकर ही मैं आपकी शरण में आया हूं । सो हे नाथ ! जिस प्रकार वृक्ष के सहारे बैठे व्यक्ति को बिना मांगे छाया मिल जाती है, उसी प्रकार आपकी शरण में मुझे भी शांति मिलेगी । मैं इसकी आप से मांग नहीं करता हूं ॥ ५७ ॥

राजेश, संजय, अज्जू, सोमू, मोनू, सुशैलू के पिता के पिता मुझ मूलचन्द्र ने यह वर्धमानचम्पू काव्य रचा है सो अब यह गुरुदेव की कृपा से समाप्त हुआ है ॥ ५८ ॥

अत्यल्प पुण्यांश समन्वितत्वात्–,
धनाढ्यचित्ता: परिलम्भितेन ।
यथाकथंचिद्गुरु सेवयाप्तै–,
स्तैरक्षरै: संरचिता मयेयम् ।। ५९ ।।

विद्वज्जनानां भवतान्मुदेऽयं सरस्वतीमातृसुसेवयाप्त: ।
श्रमो मदीयोऽन्यकृपानपेक्षो भवेत्स्वचित्तस्खलनं च क्षम्यम् ।। ६० ।।

समाप्तोऽयमष्टम: स्तबक:

अत्यल्प पुण्यशाली होने के कारण धनिकों के चित्त पर मैं चढ़ नहीं पाया– अर्थात् उनकी कृपा मुझ पर नहीं बरसी । केवल गुरुदेव की सेवा से ही जो अक्षर प्राप्त किये उन्हीं अक्षरों से इस काव्य की रचना मैंने की है ।। ५९ ।।

सरस्वती माता की आराधना मैंने की—उस आराधना में जो मुझे परिश्रम हुआ उसी का यह ग्रन्थरचनारूप परिश्रम सफल हुआ है । इसकी रचना में किसी भी विद्वज्जन की मुझे सहायता नहीं मिली है । यह स्वोपज्ञ है । अत: यह मेरा श्रम गुणीजनों को आनन्ददाता होवे यही मेरी आकांक्षा है । यदि इसमें कोई त्रुटि हो गयी होवे तो उसके लिए मैं क्षमा मांगता हूं ।। ६० ।।

अष्टम स्तबक समाप्त

यत्किञ्चिदानुषंगिक कथनम्

तीर्थंकरो महावीरो बुद्धश्च

तीर्थंकर महावीरकालेऽन्येऽपि धर्मप्रचारका बभूवुः। तेष्वस्त्येको गौतमबुद्धेति नाम्ना विशेषतः प्रख्यातः कपिलवस्तुक्षत्रियनृपतेः शुद्धोदनस्यात्मजः। तरुणावस्थायां वर्तमानेनानेन संसाराद्विरक्तचित्तेन सर्वप्रथमं तीर्थंकरमहावीरात्प्राक्संस्थितस्य तीर्थंकर—पार्श्वनाथस्य शिष्यपरंपरामलंकुर्वतः पिहितास्रवमुनिराजेभ्यः साधुदीक्षांगीकृता। जैन शास्त्रोक्तमुन्याचारविध्यनुसारेण तेन सर्वाणि वसनानि परिहाय दिगम्बरावस्था धृता। केशा लुञ्चिताः। पाणी पात्रीकृत्याहारः कृतः। एवंविधो जैनमुन्याचारस्तेन कियतो दिवसानासेवितः। परन्तु यदा तस्मै जैनसाधुचर्या

यत्किञ्चित् आनुषंगिक कथन

तीर्थंकर महावीर और बुद्ध

तीर्थंकर महावीर के समय में और भी धर्म प्रचारक हुए हैं। उनमें एक गौतमबुद्ध भी हैं। ये कपिलवस्तु के क्षत्रिय नरेश शुद्धोदन के पुत्र थे। जब वे तरुणावस्था सम्पन्न हुए तो इनके चित्त में विरक्ति जगी। सर्वप्रथम इन्होंने तीर्थंकर महावीर से पहिले हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा को अलंकृत करनेवाले पिहितास्रव[1] मुनिराज से साधुदीक्षा धारण की। जैन शास्त्रोक्त मुन्याचार के अनुसार इन्होंने समस्त वस्त्रों का परित्याग कर दिया और ये दिगम्बर अवस्था में रहने लगे। इन्होंने मस्तक के केशों का लुञ्चन किया, पाणिपात्र में आहार लिया। इस तरह कितने ही दिनों तक जैनमुनि का आचार इन्होंने पाला परन्तु जब इन्हें जैन

---

१. सिरी पासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहितासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तमुणी॥ - दर्शनसारे

दुःचर्या दुःसहा प्रतीता तदा गैरिकधातुना रंजितानि वस्त्राणि परिधाय भिन्नः स्वीयः पन्थास्तेन प्रस्थापितः । मध्यममार्गाभिधानेन सोऽयं प्रसिद्धो जातः ।

बुद्धः सारिपुत्रं स्वतपाचारविषये इत्थमवदत्—

हे सारिपुत्र ! मत्तपस इमे ह्याचारा आसन्—अहं निर्वस्त्रो जातः । त्यक्तो मया लोकाचारः । भुक्तं मया पाणिपात्रे । मदर्थमानीतं भोजनं मया न गृहीतम् । उद्दिष्टमपि मया न भुक्तम् । भोजनामंत्रणमपि मया न स्वीकृतम् । स्थाल्यामाहारो मया न कृतः । देहल्युपरि संस्थित्य न भुक्तम् । वातायनाद्दत्तं भोजनं मया नात्तम् । उदूखलीस्थानमास्थाय मया भोजनं न गृहीतम् । अन्तर्वत्न्या हस्ताद्दत्तं भोजनं न स्वीकृतम् । स्तनधयं पाययन्त्या स्त्रिया हस्ताद्दीयमान आहारो मया नादत्तः । भोगासक्तया दीयमानं भोजनं मया न गृहीतम् । न तस्मात् स्थानाद् भोजनं मया गृहीतम्—यत्र पार्श्वे

साधुचर्या दुःसह प्रतीत होने लगी तो इन्होंने गैरिक धातु से रंगे हुए वस्त्रों को पहिरना स्वीकार किया और अपना एक स्वतन्त्र मार्ग चलाया । इस मार्ग का नाम मध्यम मार्ग हुआ जो आज तक इसी नाम से प्रचलित चला आ रहा है ।

बुद्ध ने सारिपुत्र से अपने तपाचार के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—

हे सारिपुत्र ! मेरे तप के ये आचार थे । मैं निर्वस्त्र—दिगम्बर—मुनि हुआ । लोकाचार का मैंने सर्वथा परित्याग किया । पाणिपात्र में मैंने आहार किया । जो भोजन मेरे निमित्त आता उसे मैंने ग्रहण नहीं किया । जो भोजन मेरे उद्देश से बनता उसे मैंने ग्रहण नहीं किया । भोजन करने के लिए आये हुए निमन्त्रण को मैंने कभी स्वीकार नहीं किया । मैंने कभी भी थाली में भोजन नहीं किया । दरवाजे की देहली पर बैठकर मैंने भोजन नहीं किया । खिड़की में से दिये गये भोजन को मैंने स्वीकार नहीं किया । खलिहान में बैठकर मैंने आहार नहीं किया । गर्भवती स्त्री के हाथ से दिया गया आहार मैंने नहीं लिया । बालक को दूध पिलाती हुई स्त्री के हाथ से दिये गये आहार को नहीं लिया । भोगों में आसक्त हुई स्त्री के हाथ से दिया गया आहार मैंने नहीं लिया । मैंने उस स्थान से भी आहार नहीं

कौलेयस्तिष्ठति । नापि तदधिष्ठानाद् भक्तं गृहीतम् यत्र मक्षिका भन-भनायन्ते स्म । मत्स्या मया न भक्षिताः । आमिषं मया न सेवितम् । मदिरा मया न पीता । न गलितं पिशितं भक्षितम् । तुषाम्भः मलीमसं सलिलं मया न पीतम् । एकस्मादेवालयादहं भोजनमलभे । एकग्रासप्रमाणं भोजनं मया लब्धम् । द्वाभ्यां गृहाभ्यां मया भोजनं लब्धम् । द्विग्रासप्रमितं भोजनं मया भुक्तम् । दिवसे कदाचिदेकवारं भोजनं कृतम् । कदाचिच्च पंचदश-दिवसेषु निर्गतेषु अपि भोजनं भक्षितम् । शिरश्चिबुकश्मश्रुस्थाः केशा मया यथासमयं सर्वदैवोत्पाटिताः । सलिलस्यैके बिन्दावप्यहं दयाशीलोऽभवम् ।

क्षुद्रजीवस्यापि मया घातो नो भवेदीदृशी सावधानता यतना चाऽहर्निशं रक्षिता ।

लिया जिसके पास कुत्ता बैठा हो तथा जहां मक्खियां भनभना रही हों ऐसे स्थान से भी मैंने भोजन नहीं लिया । अपने आहार में मैंने मछलियों का सेवन नहीं किया, मांस नहीं खाया । शराब मैंने नहीं पी । सड़ा गला मांस मैंने नहीं खाया । धोवन मैंने नहीं पिया । एक घर का भोजन मैंने लिया । एक ग्रासप्रमाण मैंने भोजन लिया । दो घरों का भोजन मैंने लिया । दो ग्रासप्रमाण मैंने भोजन लिया । दिन में कभी मैंने एक बार भोजन लिया और कभी-कभी पन्द्रह दिनों के बाद भोजन लिया । शिर के केशों का मैंने लुञ्चन किया । दाढ़ी के बाल मैंने उखाड़े । पानी की एक बूंद पर भी मुझे दया आती थी ।

मेरे द्वारा छोटे से भी छोटे जीव का घात न हो जावे ऐसी सावधानी और यतना प्रतिदिन—सर्वदा—रखी जाती थी । इस प्रकार गौतम बुद्ध ने आहार के सम्बन्ध में अपने शिष्य को समझाया ।

तीर्थंकरमहावीरो बुद्धश्चैतौ द्वावपि समदेशे समकाले च जातौ। संस्कृतौ चैकस्यामेव संवर्धितौ। द्वावप्येतौ क्षत्रियराजकुमारौ। अनयोरेकः पञ्चशताधिकद्विसहस्राब्दतः पूर्वमात्मधर्मस्य द्वितीयश्च लोकधर्मस्य प्रसारक आसीत्।

एतयोर्द्वयोर्जीवन—सिद्धान्त—धर्मादीनामध्ययनकृतेऽध्येतृणामधस्तनीयं तुलनात्मिका तथ्यतालिकोपयोगिनी सिद्धा भविष्यति—

आत्मधर्मप्रकाशको महावीरः	लोकधर्मप्रकाशको बुद्धश्च
नाम—वर्धमानः	बुद्धः
पिताऽस्य—सिद्धार्थः	शुद्धोदनः
माताऽस्य—त्रिशला	महामाया
गोत्रमस्य—काश्यपः	कश्यपः
ग्रामोऽस्य—कुण्डग्रामः (वैशाली)	कपिलवस्तु (लुम्बिनी)
वंशोऽस्य—ज्ञातृवंशः	शाक्यः
जन्मास्य—ई० पू० ५९८	ई० पू० ५८२
जातिरस्य—क्षत्रियः	क्षत्रियः
धर्मोऽस्य—आर्हतः	आर्हतः

तीर्थंकर महावीर और बुद्ध ये दोनों ही एक देश में और एक समय में उत्पन्न हुए। एक ही संस्कृति में ये दोनों बड़े हुए ये दोनों ही राजकुमार थे। २५०० वर्ष पूर्व इनमें एक आत्मधर्म का और दूसरा लोकधर्म का प्रसारक था। संस्कृत में ऊपर इन दोनों के जीवन आदि के सम्बन्ध में जो तालिका दी गयी है वह स्पष्ट है।

ज्ञानप्राप्तिस्थानं—ऋजुकूलासरित्तटम्	गया
निर्वाणप्राप्तिस्थानम्—पावापुरी	कुशीनारस्थलम्
निर्वाणप्राप्तिः—ईस्वी पू० ५२७	५०२
आयुष्यम्—७२ वर्ष प्रमाणम्	८० वर्ष प्रमाणम्
व्रतम्—पंचमहाव्रतम्	पंचशीलम्
सिद्धान्तः—स्याद्वादः	क्षणिकवादः

तत्रैव महानिकाये महानामाख्यं स्वविनेयं संबोध्य गौतमबुद्धेन यदुक्तं तदत्र संक्षेपतः प्रतिपाद्यते—तदित्थम्—

हे महानाम ! कदाचिदहं राजगृहस्य गृहकूटनाम्नि गिरावभ्राम्यम् । संभ्रमता मया तदा ऋषिगिरेरभ्यर्णे कालशिरोपरि बहवो निर्ग्रन्थाः सुध्याननिमग्नस्वान्ता पल्यंकासनसंस्थिता अवलोकिताः । सायंकाले तेषां सविधे गत्वा मया ते पृष्टाः ।

महानिकाय में गौतमबुद्ध ने महानाम के शिष्य को सम्बोधित करके जो कहा, वह यहां संक्षेप से कहता हूं—वह इस प्रकार है—

हे महानाम ! मैं किसी समय राजगृह के गृहकूट नाम के पर्वत पर घूम रहा था । उस समय मैंने ऋषिगिरि के निकट कालशिर के ऊपर अनेक निर्ग्रन्थों को देखा । ये सब आत्मध्यान में लीन थे, पद्मासन में विराजमान थे । सायंकाल के समय मैं उनके पास गया और उनसे पूछा—

किमर्थमियान् युष्माभिस्तपस्याक्लेशः सह्यते ? तदा तैः प्रोक्तम्—निर्ग्रन्थज्ञातपुत्रेण भगवता महावीरेण सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना वयमादिष्टाः—भोः निर्ग्रन्थाः ! पूर्वं युष्माभिर्यानि पापकर्माणि कृतानि समर्जितानि वा तेषां निर्जरणं सर्वथा प्रक्षये च दुष्करतपस्याकरणमन्तरेण नास्त्यन्यत् किञ्चिदपि साधनं साधकतममिति । कायावाङ्मनःक्रियानिरोधान्नव्यानि पापकर्माणि स्वात्मनामा बंधभावमापन्नानि नो भवन्ति । तपसा च संचितानि तानि पापकर्माणि पुरातनानि निर्जीर्णानि जायन्ते । इत्थं च नूतनानां निरोधात्पुरातनानां सर्वथा प्रक्षयादात्मशुद्धिस्वरूपो मोक्षो निगदितः । इत्यमार्हताभिमतो राद्धान्तो बुद्धेन स्वविनेयं प्रति प्रतिपादितम् ।

खिष्ट्राब्दतः ५२७ वर्षाणां पूर्वं भगवति महावीरेऽनश्वरश्रिया स्वयंवरी भूते सति तदनन्तरं दिगम्बराम्नायानुसारेण ये च केवलिनः श्रुतकेवलिनो दशपूर्वधारिणोऽभूवंस्तेषां तालिकेत्थम्—

केवलिनस्त्रयस्तेचेमे

(१) गौतमगणधरः, (२) सुधर्मस्वामी; (३) जंबूस्वामी ।

हे निर्ग्रन्थो ! आप किसलिए तपस्या करने में इतना अधिक क्लेश सहन कर रहे हो । उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, हमसे कहा है—निर्ग्रन्थों ! पूर्व में आप लोगों ने जो पाप किये हैं, या उन्हें उपार्जित किया है उनकी निर्जरा या सर्वथा क्षय करने के लिए तपस्या के सिवाय और कोई साधकतम साधन नहीं है । मन, वचन और काय की क्रियारूप योग के निरोध होने से नवीन पाप कर्मों का आत्मा के साथ बन्ध नहीं होता है तथा तपस्या के द्वारा संचित पुरातन पाप कर्मों की निर्जरा होती है । इस प्रकार नूतन कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने से और संचित कर्मों के सर्वथा प्रक्षय हो जाने से आत्मविशुद्धिरूप मुक्ति कही गयी है । इस तरह मुक्ति के सम्बन्ध में जैन सिद्धान्त का अभिमत गौतमबुद्ध ने अपने शिष्य को समझाया ।

खिष्टाब्द—ईस्वी सन् ५२७ वर्ष पहिले भगवान् महावीर के मोक्ष चले जाने पर दिगम्बर आम्नाय के अनुसार जो केवली, श्रुतकेवली एवं दशपूर्वधारी हुए उनकी उनकी तालिका इस प्रकार है—(१) गौतमगणधर, (२) सुधर्मास्वामी, (३) जंबूस्वामी ये ३ केवली हुए ।

श्रुतकेवलिनः पंच—तद्यथा—

(१) विष्णुनन्दी, (२) नन्दिमित्रः, (३) अपराजितः, (४) गोवर्धनः, (५) भद्रबाहुश्चेति ।

दिगम्बराम्नायानुसारतः १६२ वर्षेषु व्यतीतेषु श्रुतकेवलिनामभावः संजातः ।

दशपूर्वधारिणश्चैकादश–तेचेत्थम्—

(१) विशाखाचार्यः, (२) प्रोष्ठिल्लः, (३) क्षत्रियः, (४) जयसेनः, (५) नागसेनः, (६) सिद्धार्थः, (७) धृतिषेणः, (८) विजयः, (९) बुद्धिवल्लः, (१०) गंगदेवः, (११) धर्मसेनः ।

एकादशांगधारिणः पञ्च तेषां नामानीमानि—

(१) नक्षत्रः, (२) जसपालः, (३) पाण्डुः, (४) ध्रुवसेनः (५) कंसाचार्यश्चेति । इमे प्रभावका आचार्याः -(१) गुणधरः, (२) कुन्दकुन्दः, (३) उमास्वामी, (४) समन्तभद्रः, (५) सिद्धसेनश्चेति ।

श्रुतकेवली ५ हुए—उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) विष्णुनंदी, (२) नन्दिमित्र, (३) अपराजित, (४) गोवर्धन, (५) भद्रबाहु ।

११ दशपूर्वधारियों के नाम—(१) विशाखाचार्य, (२) प्रोष्ठिल्ल, (३) क्षत्रिय, (४) जयसेन, (५) नागसेन, (७) सिद्धार्थ, (७) धृतिषेण, (८) विजय, (९) बुद्धिवल्ल, (१०) गंगदेव, और (११) धर्मसेन ।

एकादशाङ्गधारियों के नाम—(१) नक्षत्र, (२) जसपाल (जयपाल), (३) पाण्डु, (४) ध्रुवसेन, और (५) कंसाचार्य ।

प्रभावक आचार्यों के नाम—(१) गुणधर, (२) कुन्दकुन्द, (३) उमास्वामी, (४) समन्तभद्र, और (५) सिद्धसेन ।

आनुषंगिक कथन समाप्त

विद्यागुरुस्तुतिः

इमं वर्धमानचम्पूं गुरो ! समाप्य त्वदाशिषा दयया ।
स्वर्गस्थिताय तुभ्यं नमोऽस्तु मेऽहर्निशं भक्त्या ॥ १ ॥

गुरो ! त्वदीयोऽनुभवोऽनुभावो मया त्ववाच्यो ह्यनुमेय एव ।
वाराणसीसंस्थितविश्वविद्यालयस्य संस्थापक सत्पदस्थः ॥ २ ॥
श्रीमन्मदनमोहनमालवीयस्त्वदंघ्रिसेवां बहुमन्यते स्म ।
तथाऽन्यविद्वज्जनमंडली ते भूपालपाली च कृपां चकांक्ष ॥ ३ ॥
(युग्मम्)

विद्यागुरो ! ते गुणराजिरम्यां, कीर्तेः कथां वक्तुमशक्तचित्तः ।
सहस्रजिह्वोऽपि च, मे कथा का, स्वल्पावबोधोऽस्म्यहमेकजिह्वः ॥ ४ ॥

अस्या विनिर्मितौ हेतु प्रदर्शनम्—

विद्यानन्दमुनीश्वरैर्विरचितं हिन्द्यामिदं पुस्तकम्,
"श्री तीर्थंकर वर्धमान" मभिधं दृष्टं मया मुद्रितम् ।
पूर्वं संस्कृतगद्यतो विरहितात्पद्यैस्तथाऽनूदितम्,
चम्पूकाव्यमयं पुनश्च मयका चैतत्तदुक्त्या कृतम् ॥ ५ ॥

अत्र समागतेन केनचिद्विदुषा मां प्रविलोक्य परिहासगर्भमिदमभिहितमन्योक्तिमाश्रित्य वचनम्—

तूष्णीमास्थाय स्थातव्यं श्रीखण्डास्मिन् वने त्वया ।
करीला एव सन्त्यत्र ते न जानन्ति त्वद्गुणान् ॥ १ ॥

स्वात्मन्यवज्ञां मा धेहि समय स समेष्यति ।
यस्मिंस्तैस्तैर्गुणज्ञैस्त्वं सन्मानं कारयिष्यते ॥ २ ॥

शनैः शनैः सोऽपि समयः सौभाग्यात्समागतः

क्षेत्राधिकारिभिर्मान्यैरध्यक्षादिमहोदयैः ।
राज्याधिकारिभिश्चापि राज्यपालैर्महाजनैः ॥ ३ ॥

यथाकालं समाहूय सत्कृतोऽहं पुरस्कृतः ।
सत्यं-पुण्यादृते जीवैः सौभाग्यं नैव लभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीमत्यतिशयक्षेत्रे महावीरे नाम्ना जगद्विदिते ।
पाण्डित्यपदं वहता चम्पूकाव्य मया रचितम् ॥ ५ ॥

गंभीरा सरितस्तटे स्थितमिदं क्षेत्रं महद्विस्तृतम्,
श्री दैगम्बरमूलनायकमहावीराख्यया विश्रुतम् ।
भूगर्भोत्थितवीरबिम्बकलितं भक्तिस्थलं पावनम्,
प्राचीनं बहुभक्तिभावभरितैः श्राद्धैः सदा संकुलम् ॥ ६ ॥

दिगम्बराम्नायत एव सर्वं पूजाप्रतिष्ठादि च धर्मकृत्यम् ।
संपद्यते, सर्वजनीनमेतत् क्षेत्रं प्रसिद्धं जगतीतलेऽस्मिन् ॥ ७ ॥

भक्तिकेन्द्रस्य पूर्णाऽस्य व्यवस्था संविधीयते ।
निर्वाचनपद्धत्या जंपुरस्थैर्दिगम्बरैः ॥ ८ ॥

क्षेत्रीयसमितौ सन्ति येऽपि केऽपि सदस्यकाः ।
व्यवस्थाकरणे दक्षा नीतिशास्त्रविशारदाः ॥ ९ ॥

वार्धक्यमहिमा गृहिणीसहायः

मतिभ्रमो जायत एव पुंसां वार्धक्यकाले जनवाद एषः ।
मिथ्या यतोऽहं न तथा बभूव, बभूव मे प्रत्युत शेमुषीद्धा ॥ १ ॥

अशीतिवर्षायुषि संस्थितस्य द्विवर्षहीनेऽपि च शेमुषीयम् ।
पूर्वीयसंस्कारवशाददहीना करोति काव्यं ननु नव्यमेतत् ।। २ ।।

वार्धक्यकालेऽपि च सुस्थिरा मे, बभूव धिषणा खल्वत्र हेतुः ।
स्वल्पेपि संतोषविधायिनी सा साधुस्वभावा गृहिणी प्रकृत्या ।।३।।

साहित्यनिर्माणविधौ च पुंसो योगेन पत्न्या भवितव्यमेव ।
विशोभते चन्द्रिकयैव युक्तो विधोः प्रकाशोऽप्यनुभूत एषः ।। ४ ।।

संयोज्य करावित्थं ब्रवीमि

दृष्ट्वैव विज्ञा मम शेमुषीं तां वयोद्गतं काव्यमिदं नवीनम् ।
भवेद्यदीह स्खलनं न तन्मे बुद्धेस्तदेवेति विमर्शयन्तु ।। १ ।।

अस्य काव्यस्य निर्माणे, उपयोगः सुरक्षितः ।
तथापि यदि जाता स्यात्त्रुटिः क्षम्या गुणाग्रहैः ।। २ ।।

विद्वद्वरेण्यैर्गुणिरागवद्भि वार्धक्यकालोद्भवकाव्यमेतत् ।
विचिन्त्य, शाब्दीह यदि त्रुटिः स्यात्, क्षम्येति संयोज्य करौ ब्रवीमि ।।३।।

सागरमण्डलाधीनो मालथौनेति संज्ञकः ।
ग्रामो जनधनाकीर्णः सोऽस्ति मे जन्मभूरिति ।। १ ।।

"सल्लो" माता पिता मे श्री सटोलेलालनामकः ।
जिनधर्मानुरागी स परवारकुलोद्भवः ।। २ ।।

मदेकपुत्रां जननीं विहाय स तातपादः परमल्पकाले ।
दिवंगतस्तत्समयेऽहमासं सार्धद्विवर्षायुषि वर्तमानः ।। ३ ।।

वैधव्यकष्टेन संमर्दिताम्बा मां पालयामास यथाकथंचित् ।
वामः करो मे ह्यशुभोदयेन भग्नोऽभवद्रिक्तधनस्य हन्त ।। ४ ।।

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तो जातो द्वितीयं च हहा ! तदग्रे ।
समागतं, सत्यमिदं हि वाक्यं "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति" ॥ ५ ॥

अभावे लब्धजन्माऽहं अभावे चाथ वर्धितः ।
अभावे लब्धविद्योऽहं स्वकर्तव्ये रतोऽभवम् ॥ ६ ॥

दृष्टा मयाऽनेकविधा धनाढ्याः, गणोऽपि तेषामधिकारिणां च ।
परं न विद्वज्जनगण्यगुण्यगुणानुरागी हृदयोऽत्र दृष्टः ॥ ७ ॥

श्रीमत्सुरेन्द्र यशसा दृब्धं काव्यं सुविज्ञविज्ञेयम् ।
चतुर्विंशतिसंधानमनूदितं तन्मया हिन्द्याम् ॥ ८ ॥

येऽपि केऽपि मया दृष्टाः, आढ्या बदरिकानिभाः ।
नारिकेलसमा नैव, सौभाग्यात्क्वापि वीक्षिताः ॥ ९ ॥

मातस्त्वया मम कृतोऽस्ति महोपकारो,
यस्यास्तदंशमपि पूरयितुं न शक्तः ।
[illegible] विधाय
प्रत्यर्पयामि मांहते ! तदुरीकुरुष्व ॥ १० ॥

यत्र कुत्रापि पर्याये स्थिता त्वं सुखिता भवेः ।
त्वां जननीं पुनः प्राप्य पुत्रः स्यामिति भावना ॥ ११ ॥

गंगोत्तुङ्ग तरङ्गसङ्गि सलिलप्रान्तस्थितो विश्रुतः,
श्री स्याद्वादपदाङ्कितो मुविजनैर्मान्योऽस्ति विद्यालय ।
तत्राहंह्यपठं गणेशगुरुणा संस्थापिते वर्णिना,
अध्यावासपदोपगूहिततनुर्मेऽभूद्विशिष्टो गुरुः ॥

यावद्राजति शासनं जिनपतेर्यावच्च गंगाजलम्,
यावच्चंद्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
तावद्राजतु काव्यमत्र भुवि मे विद्वत्सभायां जनैः,
हृद्यं सद्बुधवर्यैरहर्निशमिदं पापठ्यमानं मुदा ॥

शुभं भूयाच्छुभं भूयात् सर्वेषां प्राणिनां सदा ।
नामङ्गलं च कस्यापि स्वप्नेऽपीह प्रभो ! भवेत् ॥

o—o—o